रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७६ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

वर्ष १४
अंक ४

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)
फोन : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय — **स्वामी विवेकानन्द**
(धर्मसभा, शिकागो में, सितम्बर, १८९३ ई०)

मुद्रण स्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १४] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४
★ १९७६ ★

मन का विलास

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या
भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम् ।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष-
स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ।।

—उस स्वप्न में जिसमें कोई पदार्थ नहीं होता, मन ही अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भोक्ता-भोग्य आदि प्रपंच रचता है; उसी प्रकार जागृति में भी और कोई विशेषता नहीं है। अतः यह सब मन का विलास मात्र ही है।

—विवेकचूड़ामणि, १७०

माया का प्रभाव कब तक ?

बहुत दिनों की बात है। किसी गाँव में एक पुरोहित रहा करते। पूजा-पाठ और शान्ति-स्वस्त्ययन ही उनकी वृत्ति थी। जब ऐसा कोई काम न मिलता, तो अपने किसी शिष्य के यहाँ चले जाते और दान-दक्षिणा ले आते। एक समय ऐसा ही हुआ। उन्हें पूजा आदि का कोई काम न मिला। संसार के खर्च तो लगे ही रहते हैं। जब पैसे के अभाव में उनका हाथ बहुत तंग होने लगा, तो उन्होंने सोचा कि चलो, किसी शिष्य के घर हो आएँ, थोड़ा-बहुत प्रबन्ध हो ही जायगा। ऐसा सोच वे शिष्य के गाँव की ओर निकले। पर अकेले जाने में उन्हें कुछ संकोच-सा लगा। साथ में कोई सेवक तो होना ही चाहिए। शिष्य के यहाँ जो कुछ मिलेगा, उसे स्वयं ढोकर लाना तो ठीक नहीं। साथ में सेवक होता, तो बात सम्मानजनक हो जाती। पर सेवक कहाँ से लाएँ ?

रास्ते में उन्हें एक मोची मिला। उन्होंने उसी को पकड़ा, कहा, "कहो भाई ! तुम मेरे साथ सेवक के रूप में चलोगे ? यदि तुम मेरे साथ आओ, तो तुम्हें भरपेट भोजन मिलेगा और तुम्हारी अच्छी आवभगत होगी।" मोची ने कहा, "महाराज ! आपकी बात तो ठीक है, पर मैं तो चमार हूँ। मैं आपके साथ सेवक के रूप में कैसे चल सकता हूँ ?" पुरोहित बोले, "भाई ! तुम इसकी चिन्ता मत करो, मैं सब सम्हाल लूँगा। पर हाँ, जरा सावधान रहना, किसी को यह न बताना कि तुम कौन

हो । किसी से बात भी न करना और न किसी से मेल-जोल ही बढ़ाना ।" मोची राजी हो गया ।

पुरोहित सेवक को साथ ले शिष्य के गाँव पहुँचे । शिष्य ने अपने गुरु का बड़े सम्मानपूर्वक स्वागत किया और उनकी बड़ी आवभगत की । साथ ही सेवक को भी मान मिला और उसकी भी खातिरदारी की गयी । गोधूलि वेला में पुरोहित उपासना में बैठे । इतने में एक ब्राह्मण इस शिष्य के घर पुरोहित के आने का समाचार सुन उनसे मिलने आये । उन्हें उपासना में बैठे देख ब्राह्मण ने सोचा, इनसे भेंट में तो कुछ विलम्ब होगा, मैं बाहर रखे जूते को भीतर ले आऊँ । इतने में उन्होंने पुरोहित के सेवक को देखा । वे उससे बोले, "देखो, बाहर मेरे जूते रखे हुए हैं, जरा उन्हें भीतर ले आओ ।" पर सेवक तो पुरोहित द्वारा अच्छी तरह पढ़ा दिया गया था कि कहीं किसी से कोई बात करना नहीं । अतएव उसने उनकी आज्ञा का पालन किया और ब्राह्मण की बात का कोई उत्तर न दे वह चुप रहा । ब्राह्मण ने दूसरी बार अपना आदेश दुहराया, पर फिर भी सेवक चुप ही रहा । ब्राह्मण ने बारम्बार सेवक को जूते लाने का आदेश दिया, पर सेवक अपने स्थान से टस से मस न हुआ । ब्राह्मण को बड़ा रोष आया । उन्होंने गुस्से में भरकर कहा, "अरे मूर्ख ! तू ब्राह्मण के आदेश की अवहेलना करने का साहस कैसे कर रहा है ? क्या तुझे लज्जा नहीं आती ? बोल, तेरा नाम क्या है ? तू तो चमार जैसा व्यवहार कर रहा

है। क्या तू सचमुच में चमार है ?"

सेवक ने ज्योंही यह सुना, वह डर के मारे काँपने लगा। उसे लगा कि उसकी पोल खुल गयी। वह करुणा-पूर्ण नेत्रों से पुरोहित की ओर देखकर बोला, "महाराज ! मैं तो पहचान लिया गया। अब मैं यहाँ रुकने का साहस नहीं कर सकता। मुझे क्षमा करना। मैं तो भागा।" और यह कह वह वहाँ से जोरों से भाग चला।

ऐसे ही माया का प्रभाव तभी तक रहता है, जब तक उसे कोई पहचान नहीं लेता। ज्योंही कोई उसे पहचानने में समर्थ होता है, त्योंही वह रफूचक्कर हो जाती है।

जीवन कर्म सहज भीषण है।
उसका सब सुख—केवल क्षण है।
यद्यपि लक्ष्य अदृश्य धूमिल है।
फिर भी वीर-हृदय ! हलचल है ?
अन्धकार को चीर अभय हो—
बढ़ो साहसी ! जग विजयी हो।

—स्वामी विवेकानन्द

अग्नि-मंत्र

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते श्री रामकृष्णाय

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९५

कल्याणीय,

कल तुम्हारा पत्र मुझे मिला, जिसमें समाचार कुछ अल्प अंश में था, परन्तु सविस्तार वर्णन किसी चीज का नहीं था। मैं पहले से वहुत अच्छा हूँ। ईश्वर की कृपा से इस वर्ष के विकट शीत से मैं सुरक्षित हूँ। अरे, यहाँ की भयंकर ठंड ! परन्तु वैज्ञानिक ज्ञान से ये लोग इसे दबाकर रखते हैं। हर मकान में जमीन के नीचे एक तलघर होता है, जहाँ एक बहुत वड़ा पानी उबालने का पात्र है, वहाँ की भाप को दिन-रात हर कमरे में प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार कमरे गर्म रहते हैं, परन्तु इसमें एक दोष है, वह यह कि घरों के अन्दर यद्यपि ग्रीष्म ऋतु होती है, परन्तु बाहर शून्य से तीस-चालीस डिग्री नीचे पारा रहना है। इस देश के अधिकांश धनवान शीतकाल में यूरोप—जो कि यहाँ की तुलना में गर्म रहता है—चले जाते हैं।

अब मैं तुम्हें कुछ उपदेश देता हूँ। यह पत्र विशेष रूप से तुम्हारे लिए है। कृपया प्रतिदिन इसे एक बार पढ़ना और इसे व्यवहार में लाना। मुझे सारदा का पत्र मिला, वह अच्छा काम कर रहा है, परन्तु अब हमें संग-

ठन की आवश्यकता है। उसे, तारक दादा को, तथा औरों को मेरा विशेष प्रेम और आशीष कहना। तुम्हें इन थोड़े से आदेशों को देने का मुख्य कारण यह है कि तुममें संगठन की शक्ति है--ईश्वर ने मुझे यह दिखलाया है--परन्तु उसका अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है। ईश्वर की कृपा से वह शीघ्र ही हो जायगा। तुम अपना सन्तुलन केन्द्र (centre of gravity) कभी नहीं खोते,* यही उसका प्रमाण है; परन्तु गम्भीर और उदार, दोनों होना चाहिए।

१. सब शास्त्रों का कथन है कि संसार में जो त्रिविध दुःख हैं, वे नैसर्गिक नहीं हैं, और वे दूर किये जा सकते हैं।

२. बुद्ध अवतार में भगवान् कहते हैं कि इस आधिभौतिक दुःख का कारण भेद ही है; अर्थात् जन्मगत, गुणगत या धनगत--सब तरह का भेद इन दुःखों का कारण है। आत्मा में लिंग, वर्ण या आश्रम या इस प्रकार का कोई भेद नहीं होता, और जैसे कीचड़ के द्वारा कीचड़ नहीं धोया जाता, इसी तरह से भेदभाव से अभेद की प्राप्ति होना असम्भव है।

३. कृष्ण अवतार में वे कहते हैं कि सब दुःखों का मूल अविद्या है और निष्काम कर्म चित्त को शुद्ध करता है। परन्तु **किं कर्म किमकर्मेति** आदि; 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है', इसका निर्णय करने में महात्मा भी भ्रम में पड़ जाते हैं। (गीता)

---

* इसका तात्पर्य यह है कि तुम इधर-उधर न घूमकर एक ही जगह रहना पसन्द करते हो।

४. जिस कर्म के द्वारा इस आत्मभाव का विकास होता है, वही कर्म है। और जिसके द्वारा अनात्मभाव का विकास होता है, वही अकर्म है।

५. अतएव कर्म या अकर्म का निर्णय व्यक्तिगत, देशगत और कालगत परिस्थिति के अनुसार होना चाहिए।

६. यज्ञ आदि कर्म प्राचीन काल में उपयोगी थे। परन्तु वे वर्तमान काल के लिए वैसे नहीं हैं।

७. रामकृष्ण अवतार की जन्मतिथि से सत्य युग का आरम्भ हुआ है।...

८. रामकृष्ण अवतार में नास्तिकतारूप म्लेच्छनिवह ज्ञानरूपी तलवार से नष्ट होंगे, और सम्पूर्ण जगत् भक्ति और प्रेम से एक सूत्र में बँध जायगा। साथ ही, इस अवतार में रजस् अर्थात् नाम-यश आदि की इच्छा का सर्वथा अभाव है। दूसरे शब्दों में, उसका जीवन धन्य है, जो इस अवतार के उपदेश को व्यवहार में लाये, चाहे वह उन्हें (इस अवतार को) स्वयं माने या न माने।

९. आधुनिक या प्राचीन समय के विविध सम्प्रदायों के संस्थापक अनुचित मार्ग पर न थे। उन्होंने अच्छा किया परन्तु उससे और भी अच्छा करना है। कल्याण—तर—तम।

१०. इसलिए जो जिस स्थान पर है, वही उसे ग्रहण करना होगा, अर्थात् उसके इष्ट के भाव में आघात न कर उसे उच्चतर भाव में ले जाना होगा। जो इस समय की सामाजिक परिस्थिति है, वह अच्छी है, पर उसे उत्कृष्टतर से उत्कृष्टतम बनाना होगा।

११. स्त्रियों की अवस्था को बिना सुधारे जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है।

१२. इस कारण रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' को ग्रहण किया गया है, इसीलिए उन्होंने स्त्री के रूप और भाव में साधना की और इस कारण ही उन्होंने जगज्जननी के रूप का दर्शन नारियों के मातृ-भाव में करने का उपदेश दिया।

१३. इसलिए मेरा पहला प्रयत्न स्त्रियों के मठ को स्थापित करने का है। इस मठ से गार्गी और मैत्रेयी और उनसे भी अधिक योग्यता रखनेवाली स्त्रियों की उत्पत्ति होगी। . . .

१४. चालाकी से कोई बड़ा काम पूरा नहीं हो सकता। प्रेम, सत्यानुराग और महान् वीर्य की सहायता से सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। **तत् कुरु पौरुषम्,** इसलिए पुरुषार्थ को प्रकट करो।

१५. किसी से लड़ने-झगड़ने की आवश्यकता नहीं है। **Give your message, leave others to their own thoughts** (अपना सन्देश दे दो तथा दूसरों को उनके भाव के साथ रहने दो।) **सत्यमेव जयते नानृतम्**--'सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं;' **तदा किं विवादेन**—'तब विवाद से क्या प्रयोजन ?'

. . गम्भीरता के साथ शिशु-सरलता को मिलाओ। सबके साथ मेल से रहो। अहंकार के सब भाव छोड़ दो

और साम्प्रदायिक विचारों को मन में न लाओ। व्यर्थ विवाद महापाप है।

. . .सारदा के पत्र से मालूम हुआ कि न--घोष ने मेरी ईसा मसीह आदि से तुलना की है। हमारे देश में इस प्रकार की बातें चल सकती हैं, परन्तु यदि तुम यहाँ ऐसा छपवाकर भेजो, तो मेरी निन्दा होने की सम्भावना है! तात्पर्य यह है कि मैं किसी के विचार की स्वतंत्रता में बाधा नहीं डालना चाहता---क्या मैं मिशनरी हूँ? यदि काली ने वे पत्र अमेरिका न भेजे हों, तो उससे कह दो कि न भेजे। केवल अभिनन्दन-पत्र पर्याप्त होगा--कार्यवाहियों के विवरण की आवश्यकता नहीं। इस देश के बहुत से माननीय स्त्री-पुरुष मुझे पूज्य मानते हैं। ईसाई मिशनरी और उनके जैसे दूसरे लोगों ने मुझे गिराने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु अपना यत्न निष्फल समझकर अब चुप बैठे हैं। प्रत्येक कार्य को अनेक विघ्न-बाधाएँ पार करनी पड़ती हैं। शान्ति के मार्ग पर चलने से ही सत्य की विजय होती है। श्री हडसन ने मेरे विरुद्ध कुछ कहा था, उसका उत्तर देने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। पहले तो ऐसा करना अनावश्यक है, दूसरे, मैं श्री हडसन और उनके समान मनुष्यों की श्रेणी में अपने को गिरा लूँगा। क्या तुम पागल हो? एक श्री हडसन से क्या मैं यहाँ से लड़ूँगा? परमात्मा की कृपा से श्री हडसन से कहीं ऊँची श्रेणी के मनुष्य आदर के साथ मेरी बात सुनते हैं। कृपया समाचारपत्र इत्यादि अब मेरे पास न भेजो

जो सब बातें भारत में चल रही हैं, उन्हें चलने दो, इससे कोई हानि नहीं होगी। कुछ समय तक ईश्वरीय कार्य के हेतु समाचारपत्रों में ऐसी हलचल अच्छी थी। जब वह सम्पन्न हो गया, तब फिर उसकी आवश्यकता नहीं रही।... नाम और यश के साथ चलनेवाले दोषों में से यह भी एक दोष है कि कोई बात गुप्त नहीं रह सकती।... किसी नये कार्य को आरम्भ करने से पहले श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना करो और वे तुम्हें उत्तम मार्ग दिखायेंगे। आरम्भ में हमें एक बड़ा भू-भाग चाहिए, फिर इमारत आदि सब कुछ हो जायगा, धीरे धीरे हमारा मठ अपना निर्माण स्वयं करेगा, उसकी चिन्ता न करो।...

काली तथा औरों ने अच्छा काम किया है। सबको मेरा स्नेह और शुभेच्छाएँ कहना। मद्रास के लोगों के साथ मिलकर काम करना, और तुममें से कोई एक वहाँ समय समय पर जाते रहना। नाम, यश और अधिकार की इच्छा सदा के लिए त्याग दो। जब तक मैं पृथ्वी पर हूँ, श्रीरामकृष्ण मेरे माध्यम से काम कर रहे हैं। जब तक तुम इस पर विश्वास रखते हो, तुम्हें किसी बात का भय नहीं हो सकता।

'रामकृष्ण-पोथी' (बँगला कविता में श्रीरामकृष्ण का जीवन), जो अक्षय ने मुझे भेजी, वह बहुत अच्छी है, परन्तु उसके आरम्भ में 'शक्ति' की स्तुति नहीं है, यह उसमें बड़ा दोष है। उससे कहो कि दूसरे संस्करण में इस दोष को दूर कर दें। हमेशा याद रखो कि अब

हम संसार की दृष्टि के सामने खड़े हैं और लोग हमारे प्रत्येक काम और वचन का निरीक्षण कर रहे हैं। यह स्मरण रखकर काम करो।

. . .अपने मठ के लिए कोई स्थान देखते रहना। . . .यदि कलकत्ते से कुछ दूर हो, तो कोई हानि नहीं। जहाँ कहीं भी हम मठ बनायेंगे, वहीं पर हलचल मचेगी। महिम चक्रवर्ती के बारे में सुनकर प्रसन्न हुआ। मैं देखता हूँ कि ऐन्डीज पर्वत में गया क्षेत्र बन गया है! वह कहाँ है? उसे, श्री विजय गोस्वामी और हमारे मित्रों को मेरा स्नेहमय नमस्कार कहना। . . . शत्रु को पराजित करने के लिए ढाल तथा तलवार की आवश्यकता होती है। इसलिए अंग्रेजी और संस्कृत का अध्ययन मन लगाकर करो। काली की अंग्रेजी दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रही है और सारदा की कमजोर होती जा रही है। सारदा से कहो कि आलंकारिक पद्धति का त्याग करे। परदेशी भाषा में आलंकारिक पद्धति में लिखना अति कठिन है। उसे मेरी ओर से लाखों शाबाशियाँ कहना!—वही मर्द का काम। . . . तुम सबने बहुत अच्छा किया। शाबाश बच्चो! आरम्भ अत्यन्त शानदार है। इसी तरह से चले चलो। यदि ईर्ष्या-सर्प न आ जाय, तो कोई भय नहीं—**माभैः! मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः**—'जो मेरे भक्तों की सेवा करते हैं, वे मेरे सर्वोत्तम भक्त हैं।' तुम सब लोग कुछ गम्भीर हो जाओ। मैं अभी हिन्दू धर्म पर कोई पुस्तक नहीं लिख रहा हूँ, परन्तु मैं

अपने विचारों को संक्षेप में लिख रहा हूँ। प्रत्येक धर्म एक अभिव्यक्ति है, एक ही सत्य को प्रकाशित करने की मानो एक भाषा है और हमें हर एक से उसी की भाषा में बात करनी चाहिए। सारदा ने इसे ठीक समझ लिया है, यह अच्छा है। हिन्दू धर्म का निरीक्षण करने के लिए बाद में काफी समय निकल आयेगा। क्या तुम समझते हो कि यदि मैं हिन्दू धर्म की चर्चा करूँगा, तो इस देश के लोग बहुत आकृष्ट होंगे? भावों की संकीर्णता का नाम ही उन्हें दूर भगा देगा। जो वास्तविक चीज है, वह है धर्म, जिसका उपदेश श्रीरामकृष्ण ने दिया था--हिन्दू चाहे उसे हिन्दू धर्म कहें और दूसरे अपनी इच्छा के अनुकूल किसी और नाम से पुकारें। तुम्हें केवल धीरे धीरे आगे बढ़ना चाहिए, **शनैः पन्थाः**--'यात्रा धीरे धीरे करनी चाहिए।' दीननाथ से, जो अभी नया आया है, मेरा आशीर्वाद कहना। मुझे लिखने को बहुत कम समय मिलता है--हमेशा व्याख्यान! व्याख्यान!! व्याख्यान!!! पवित्रता, धीरज और निरन्तर उद्योग। . . . अधिक संख्या में आजकल जो लोग श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की ओर ध्यान दे रहे हैं उनसे कुछ हद तक आर्थिक सहायता की प्रार्थना करो। यदि वे सहायता नहीं करेंगे, तो मठ का निर्वाह कैसे हो सकता है? सबसे यह स्पष्ट कहने में तुम्हें लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिए। . . .

इस देश से शीघ्र ही लौटने में कोई लाभ नहीं है। पहली बात यह कि यहाँ पर किये हुए क्षीण शब्द से भी

वहाँ पर प्रतिध्वनि बहुत अधिक होगी। फिर यहाँ के लोग अति धनवान हैं और देने का भी साहस रखते हैं, जबकि हमारे देश के लोगों के पास न तो धन है और न साहस की किंचिन्मात्रा ही।

तुम्हें धीरे धीरे सब मालूम हो जायगा। क्या श्री रामकृष्ण केवल भारत के उद्धारक ही थे? इस संकीर्ण भाव ने ही भारतवर्ष का नाश किया है, और उसका कल्याण असम्भव है, जब तक यह भाव जड़ से न निकाला जायगा। यदि मेरे पास धन होता, तो मैं तुममें से प्रत्येक को सारे संसार में भ्रमण करने के लिए भेजता। कोई भी महान् विचार किसी हृदय में स्थान नहीं पा सकता है, जब तक कि वह अपने सीमित दायरे से बाहर न निकले। समय पाकर यह प्रमाणित होगा। प्रत्येक महान् कार्य धीरे धीरे होता है। यही परमात्मा की इच्छा है। . . .

तुम लोगों में से किसी ने हरीश और दक्ष के विषय में क्यों नहीं लिखा? यदि तुम उनके बारे में खोज-खबर रखोगे, तो मैं हर्षित होऊँगा। सान्याल दुःख का अनुभव कर रहा है, क्योंकि उसका मन अभी गंगाजल के समान निर्मल नहीं हुआ। अभी तक वह निःस्वार्थी नहीं है, परन्तु समय पर हो जायगा। यदि वह अपनी थोड़ी सी कुटिलता छोड़कर सीधा हो जाय, तो उसका दुःख भी मिट जायगा। राखाल और हरि को विशेष प्रेम। उनकी ओर विशेष ध्यान देना। . . . यह कभी न भूलना कि राखाल श्रीरामकृष्ण के प्रेम का विशेष पात्र था। किसी बात से

तुम उत्साहहीन न होओ; जब तक ईश्वर की कृपा हमारे ऊपर है, कौन इस पृथ्वी पर हमारी उपेक्षा कर सकता है ? यदि तुम अपनी अन्तिम साँस भी ले रहे हो, तो भी न डरना। सिंह की शूरता और पुष्प की कोमलता के साथ काम करते रहो। इस वर्ष श्रीरामकृष्ण का उत्सव धूम-धाम से मनाओ। खाना-पीना साधारण रखो——एकत्र लोगों को मिट्टी के पात्रों में प्रसाद बिना किसी नियम के बाँट दो। यह पर्याप्त होगा। श्रीरामकृष्ण की जीवनी से पाठ होगा। वेद और वेदान्त जैसी पुस्तकों को एक साथ रखकर उनकी आरती करो. . .पुरानी पद्धति के अनुसार निमन्त्रण-पत्र मत भेजो। **आमन्त्रये भवन्तं साशीर्वादं भगवतो रामकृष्णस्य बहुमानपुरःसरञ्च**——इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखकर फिर श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव और मठ के निर्वाह के लिए उनकी सहायता माँगो। और यदि वे चाहें, तो अमुक नाम से अमुक पते से, रुपया भेज दें। एक पृष्ठ अंग्रेजी का भी जोड़ दो। 'लार्ड श्री रामकृष्ण' पद का कोई अर्थ नहीं है। उसे त्याग दो। अंग्रेजी अक्षरों में 'भगवान्' लिखो और कुछ पंक्तियाँ अंग्रेजी की लगा दो। जैसे——

The Anniversary of Bhagavan Sri Ramakrishna

Sir,

We have great pleasure in inviting you to join us in celebrating the--th anniversary of Bhagavan Ramakrishna Paramahansa. For the celebration of this great occasion and for the maintenance of the

Alambazar Math, funds are absolutely necessary. If you think that the cause is worthy of your sympathy, we shall be very grateful to receive your contribution to the great work.

(Date) (Place) Yours obediently,
(Name)

भगवान् श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव

महाशय,

भगवान् रामकृष्ण परमहंस के—वें वार्षिकोत्सव को मनानें में सम्मिलित होने के लिए हम सहर्ष आपको आमंत्रित करते हैं। इस सुअवसर को मनाने के लिए और आलमबाजार मठ को चलाने के लिए धन की नितान्त आवश्यकता है। यदि आप समझते हैं कि यह कार्य आपकी सहानुभूति के योग्य है, तो इस महान् कार्य के संचालन के लिए हम कृतज्ञतापूर्वक आपका दान स्वीकार करेंगे।

आज्ञापूर्वक आपका,

(तारीख) (स्थान) (नाम)

यदि तुम्हें आवश्यकता से अधिक धन मिले, तो उसमें से थोड़ा सा ही व्यय करो, और बचे हुए रुपये को मठ के खर्च के लिए संचित रखो। नैवेद्य चढ़ाने के बहाने से लोगों को इतनी देर प्रतीक्षा न करवाओ कि वे अस्वस्थ हो जायँ और फिर उन्हें बासी और स्वादहीन भोजन करना पड़े। दो फिल्टर बनवा लो और पकानें और पीने के लिए फिल्टर का पानी काम में लाओ। छानने से पहले पानी उबाल लो। यदि तुम ऐसा करोगे, तो मलेरिया का

नाम तक नहीं सुनोगे। सबके स्वास्थ्य की ओर खूब ध्यान दो। यदि तुम जमीन पर लेटना छोड़ सकते हो अर्थात् यदि तुम्हें ऐसा करने के लिए पर्याप्त धन मिल सकता है, तो अति उत्तम होगा। रोग के मुख्य कारण गन्दे कपड़े होते हैं।... मैं तुमसे कहता हूँ कि नैवेद्य के लिए थोड़ा सा पायसान्न ही पर्याप्त होगा। उन्हें केवल वही प्रिय था। यह सत्य है कि पूजा-गृह से बहुत से लोगों को सहायता मिलती है, परन्तु राजसिक और तामसिक भोजन करना उचित नहीं। विधियों को कुछ कम करके गीता या उपनिषद् या शास्त्रों के अध्ययन को कुछ स्थान दो। मेरा मतलब यह है—भौतिकता को कम से कम कर दो और आध्यात्मिकता को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ा दो।... श्रीरामकृष्ण क्या किसी व्यक्तिविशेष के लिए आये थे या संसार के लिए ? यदि संसार के लिए, तो उनके जीवन का इस तरह दिग्दर्शन प्रस्तुत करो कि सारा संसार उन्हें समझ सके। You must not identify yourself with any life of Him written by anybody, nor give your sanction to any. (किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखित श्रीरामकृष्ण के जीवन- चरित्र से तुम अपना नाम किसी प्रकार सम्बन्धित न करना और न अपनी स्वीकृति ही किसी ऐसे ग्रंथ के लिए देना)। इन जीवन-चरित्रों के साथ हम लोगों का नाम न जुड़ा रहना चाहिए, बस, फिर कोई हर्ज नहीं। 'सुनिए सबकी—करिए मन की।'

... महेन्द्र बाबू ने हमारी सहायता करके कृपा की,

इसके लिए उन्हें सहस्त्रों वार धन्यवाद। वे बड़े उदार-हृदय व्यक्ति हैं ... सान्याल यदि अपना काम ध्यान से करेगा अर्थात् श्रीरामकृष्ण की सन्तान की केवल सेवा, तो वह सर्वोत्तम कल्याण को प्राप्त करेगा। ... तारक दादा वहुत अच्छा काम कर रहे हैं। शावाश! वहुत अच्छा! यही हम चाहते हैं। अनेक पुच्छल तारों की तरह मैं तुम लोगों को उज्ज्वल एवं प्रभावशाली देखना चाहता हूँ। गंगाधर क्या कर रहा है? राजपूताने के कुछ जमींदार उसका आदर करते हैं। उससे कहो कि वह भिक्षारूप में लोकसेवा के लिए उनसे कुछ धन ले; तभी तो वात है। ...

अभी मैंने अक्षय की पुस्तक पढ़ी। मेरी ओर से उसे कोटिशः स्नेहमय आलिगन। उसकी लेखनी से श्री रामकृष्ण अभिव्यक्त हो रहे हैं। धन्य है अक्षय! उसे उस 'पोथी' का पाठ सबके सामने करने दो। उत्सव के दिन उसे सवके सामने कुछ पाठ करना चाहिए। यदि पुस्तक वहुत वड़ी हुई, तो उसे उसका कुछ विशेष भाग पढ़ने दो। उसमें मैं एक भी असम्वद्ध शब्द नहीं पाता हूँ। उस किताव के पढ़ने से मुझे जो आनन्द हुआ है, उसका मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। तुम सव यत्न करके उसका वहुत अधिक विक्रय करवाओ। फिर अक्षय से कहो कि गाँव गाँव जाकर प्रचार करे। शावाश अक्षय! वह प्रभु का काम कर रहा है। गाँव गाँव जाकर श्रीरामकृष्ण के उपदेश की घोषणा करो। इससे अधिक सौभाग्य का

विषय और क्या हो सकता है ? मैं कहता हूँ कि स्वयं अक्षय और उसकी पुस्तक, दोनों को जनता में एक प्रकार का विद्युत्संचार कर देना चाहिए। प्रिय, प्रिय अक्षय, मैं हृदय से तुम्हें आशीष देता हूँ। मेरे प्यारे भाई ! भगवान् तुम्हारी जिह्वा पर विराजमान रहें। जाओ, द्वार द्वार उनका उपदेश सुनाओ। तुम्हें संन्यासी बनने की कोई आवश्यकता नहीं है।...बंगाल की जनता के लिए भविष्य में अक्षय ईश्वरीय दूत होगा। अक्षय का ख्याल रखना। उसकी भक्ति और श्रद्धा फलवती हुई है।

अक्षय से कहना कि अपनी पुस्तक के द्वितीय भाग 'धर्म-प्रचार' में वह निम्नलिखित बातें लिखे:--

१. वेद-वेदान्त तथा अन्य अवतारों ने जो भूतकाल में किया, श्री रामकृष्ण ने उन सबकी साधना एक ही जीवन में कर डाली।

२. वेद-वेदान्त, अवतार और इस प्रकार की अन्य बातों को कोई तब तक समझ नहीं सकता, जब तक वह उनके जीवन को न समझे; क्योंकि वही उन सब विषयों की व्याख्या है।

३. उनके जन्म की तिथि से ही सत्ययुग आरम्भ हुआ है। इसलिए अब सब प्रकार के भेदों का अन्त है और सब लोग चाण्डाल सहित उस दैवी प्रेम के भागी होंगे। पुरुष और स्त्री, धनी और दरिद्र शिक्षित और अशिक्षित, ब्राह्मण और चाण्डाल—इन सब भेद-भावों को समूल नष्ट करने के लिए उनका जीवन व्यतीत हुआ था।

वे शान्ति के दूत थे––हिन्दू और मुसलमानों का भेद, हिन्दू और ईसाइयों का भेद––सब भूतकालीन हो गये हैं। मान-प्रतिष्ठा के लिए जो झगड़े होते थे, वे सब अव दूसरे युग से सम्वन्धित हैं। इस सत्ययुग में श्री रामकृष्ण के प्रेम की विशाल लहर ने सवको एक कर दिया है।

उससे कहो कि इन विचारों को वह विस्तार पूर्वक अपनी शैली में लिखे।

जो कोई––पुरुष या स्त्री––श्री रामकृष्ण की उपासना करेगा, वह चाहे कितना ही पतित क्यों न हो, तत्काल उच्चतम में परिणत हो जायगा। एक बात और है, इस अवतार में परमात्मा का मातृभाव विशेष स्पष्ट है। वे स्त्रियों के समान कभी कभी वस्त्र पहनते थे––वे मानो हमारी जगन्माता जैसे ही थे––इसलिए हमें सब स्त्रियों को उस जगन्माता की ही मूर्तियाँ माननी चाहिए। भारत में दो वड़ी बुरी वातें हैं। स्त्रियों का तिरस्कार और गरीबों को जाति-भेद के द्वारा पीसना। वे स्त्रियों के रक्षक थे, जनता के रक्षक थे, ऊँच और नीच सवके रक्षक थे। अक्षय उनकी उपासना सव घरों में प्रचलित कर दे, चाहे ब्राह्मण हो या चाण्डाल, पुरुष हो या स्त्री––सवको उनकी पूजा का अधिकार है। जो प्रेम से उनकी पूजा करेगा, उसका सदा के लिए कल्याण हो जायगा।

उससे कहना कि वह इस पद्धति से लिखे। वह किसी वात की चिन्ता न करे। भगवान् उसके साथ रहेगा। किमधिकमिति।

नरेन्द्र

पुनश्च--सान्याल से कहना कि नारद और शाण्डिल्य सूत्र की एक एक प्रति और एक योगवासिष्ठ की प्रति, जिसका अनुवाद अभी कलकत्ते में हुआ है, मुझे भेजे। मुझे योगवासिष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद चाहिए, बंगला संस्करण नहीं। . . .

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

हेमन्त ऋतु, खेत तब भी पके-अधपके धान के पौधों से भरे हैं। मेंड़ पर से घूमकर खेतों को पार करना पड़ता है। गड़बेता से एक भक्त दम्पती अपने छोटे बच्चों के साथ बैलगाड़ी में शाम को निकले और सारी रात चल-कर आठ-नौ कोस का रास्ता तय किया। दूसरे दिन सुबह वे जयरामवाटी के दक्षिण में स्थित गिष्टे गाँव के पूर्व की ओर बड़े रास्ते पर आये, वहाँ बैलगाड़ी छोड़ दी और डेढ़ मील पैदल चलकर खेतों को पार कर वे ९–१० बजे के करीब माँ के घर में आ उपस्थित हुए। साथ में उनकी चार पुत्रियाँ थीं और गोद में दुधमुँहा बच्चा था। बच्चे को बुखार था—वह मलेरिया से पीड़ित था। बैलगाड़ी की कष्टप्रद यात्रा, और उसके ऊपर इतनी दूर पैदल चल-कर आना। वे लोग अत्यन्त थका शरीर ले माँ के दरवाजे आ खड़े हुए। स्थान बिलकुल अजाना है, रास्ते में लोगों से पूछ-पूछकर यहाँ तक आये हैं। माँ के घर पहुँच गये सही, पर न तो कुछ जानते हैं, न किसी को पहचानते। क्या करें, क्या कहें, कहाँ बैठें, कुछ समझ न पाने के कारण वे संशयाकुलचित्त से नीरव खड़े हैं ! माँ की बात सुनी है, हृदय में कितनी आशा संजोकर, कितना कष्ट सहकर आये हैं—माँ के दर्शन की, उनकी कृपा पाने की साध लेकर। पर अब क्या होता है, नहीं होता है, कुछ समझ नहीं पा रहे हैं। मानो दृष्टि पूछ रही है—माँ कहाँ हैं ?

अबोल खडे हुए हैं, कहाँ बैठेंगे, कहाँ खाएँगे, बच्चों को लेकर कहाँ रहेंगे——यह तो एक छोटासा फूस का छप्पर-वाला घर है, वह भी लोगों से भरा हुआ। माँ के पास खबर पहुँची। उन्होंने उनको भीतर बुलवा लिया। माँ आगे आकर परम स्नेहपूर्वक बच्चे सहित कन्या को अपने कमरे के वरामदे में ले गयीं। माँ के मुख की ओर देख, स्नेहमयी 'बेटी, आओ' की पुकार सुन दु:खी, विपत्ति में पड़ी कन्या का हृदय भर उठा, वदन खिल उठा। वह अश्रुपूर्ण नयनों से माँ के चरणों पर गिर पड़ी। माँ ने स्नेहपूर्वक शुभाशीर्वाद देते हुए उसकी बाँह पकड़कर उसे उठाया और उसके मुँह में हाथ लगाकर चूमते हुए अपना स्नेह प्रदर्शित किया। भक्त ने भी भक्तिपूर्वक माँ को प्रणाम किया। माँ ने 'आओ बेटा' कहकर अपना स्नेह जताया और आशीर्वाद दिया। अपनी कन्याओं को भी एक एक करके उन्होंने माँ को प्रणाम करने में लगाया और उनका शुभ आशीर्वाद प्राप्त कराया। क्षणभर में माँ के स्नेह के इन्द्रजाल से सारा दृश्य परिवर्तित हो उठा। भक्त-दम्पती को और कोई चिन्ता न रही——हृदय आनन्द से भर उठा, मुख उल्लसित हो उठा। बेटी अपनी माँ के घर आयी है, उसे माँ मिल गयी है, तब भला कैसी चिन्ता! बच्चे को ज्वर है तो क्या हुआ, डर किस बात का ? जो मझधार से बचा लाती है, सारी विपत्तियों से रक्षा करती है, आज वे उसी के चरणों-तले बैठे हैं ! माँ ने अपने कमरे के बरामदे में दरवाजे के एक किनारे चटाई बिछा

दी—बच्चे को लिटाने के लिए। क्षण भर में उन सबके बैठने, विश्राम करने आदि की व्यवस्था हो गयी; यही नहीं, बल्कि शिशु के दूध और दवा की भी। माँ के घर में बेटी के लिए क्या किसी बात का अभाव या संकोच रहता है? क्षण भर में भक्त महिला के साथ घर की अन्य महिलाओं का परिचय और सौहार्द हो गया। कुछ समय बाद ही देखा गया कि आगन्तुक भक्त महिला काँख में कलशी दबाकर अपनी अन्य बहिनों के साथ आनन्द-पूर्वक बातें करते करते गाँव के छोर पर बाँड़ुज्जे तालाब में स्नान करने के लिए जा रही है। भक्त ने बाहर के कमरे में स्थान पाया है। लड़कों के साथ उनकी भी महफिल जम गयी है। कुछ समय के बाद वे भी लड़कों के साथ जाकर स्नान कर आये। ठाकुर की पूजा के पश्चात् माँ ने दम्पती पर कृपा की। दीक्षा प्राप्त कर उनकी बहुत दिनों से पोषित अभिलाषा पूर्ण हुई, प्राणों की आकांक्षा मिटी और आज उनका मानवजन्म सफल हो गया। माँ ने लड़कों को बरामदे में बिठाकर अपने हाथ से पूजा का प्रसाद दिया और फल, मिठाई, मुड़ि का नाश्ता कराया। उसके बाद बेटियों के साथ उन्होंने स्वयं भी थोड़ासा जलपान किया।

उस दिन और भी भक्त उपस्थित थे। भक्तगण सामान ले आये हैं—रसोई का परिमाण अधिक है, आयोजन भी बड़ा है। राँधनेवाली मौसी को जलपान का समय देने के लिए माँ प्रतिदिन रसोईघर में जातीं और हाथ में

कलछी लेतीं। बड़ी सुबह माँ उठकर तैयार होतीं, ठाकुर को उठाकर स्वयं तरकारी काटने बैठ जातीं। फिर ठाकुर की पूजा की व्यवस्था भी स्वयं करतीं। फल आदि रहने से छिलके निकालकर, काटकर नैवेद्य तैयार करना आदि काम भी अपने हाथों से करतीं। पूजा के बाद सबको प्रसाद बाँटकर स्वयं थोड़ा सा मुँह में लेतीं और रसोई का निरीक्षण कर पान लगाने बैठ जातीं। इन सब कार्यों में आवश्यकतानुसार अन्य महिलाएँ भी सहायता करतीं। यदि कोई विशेष भक्तिमती महिला उपस्थित हों, तो वे प्रयत्नपूर्वक अधिक काम स्वयं कर देने की पहल अवश्य करती थीं, पर माँ को स्वयं यह सब करना अच्छा लगता था। पहले जब शरीर समर्थ था, तो वे अपने हाथ से रसोई बनाकर, स्वयं परोसकर सन्तानों को खिलातीं--जूठी पत्तल भी स्वयं उठाकर साफ किया करतीं, पर अब यह सब करना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता था। फिर भी वे कुछ दूर बैठकर सन्तानों का भोजन करना अपनी आँखों से देखतीं, पूछ-पूछकर पेट भरकर खिलातीं और विभिन्न सन्तानों की रुचि और पसन्द के अनुसार उन्हें भिन्न भिन्न चीजें दिलातीं। भोजन के बाद स्वयं अपने हाथ से पान देतीं—जो एक चाहता उसे दो, जो दो चाहता उसे चार। लड़कों को मुँह भरकर पान चबाते देख माँ को बड़ी प्रसन्नता होती। पान लगाने के बाद समय मिलने पर माँ मामा लोगों के घर जा उनकी खोज-खबर लेतीं, काम में सहायता करतीं। किसी किसी दिन जरूरत की

चीजें दे आतीं—कभी कभी पकायी गयी सब्जी, मिठाई आदि भी। रसोई तैयार होने पर सभी चीजें रसोईघर में सजाकर रख दी जातीं, माँ स्वयं ठाकुर को निवेदित करतीं। लड़कों के खाने के बाद लड़कियों के साथ स्वयं बैठकर, खा-खिलाकर तब कहीं माँ को कुछ फुरसत मिलती। और यदि किसी दिन अचानक कोई बाद में खाता, तो माँ मुँह में मसाला लेते लेते बरामदे में पैर फैलाकर बैठ जातीं और उसके साथ बातचीत करते हुए उसे स्नेहपूर्वक खिलातीं, तत्पश्चात् लेटकर अपराह्न में विश्राम करतीं।

आज लड़कियों के सहायता करने के बावजूद, रसोई तैयार होते, भोग देते, प्रसाद पाते देर हो गयी। भक्त-दम्पती अपने गाँव वर्धमान लौट जायेंगे। दूरी बहुत है। आज की रात भी उन्हें बैलगाड़ी में बितानी होगी। भोजन के पश्चात् ही उन्होंने माँ के चरणों में प्रणाम किया और उनका शुभाशीर्वाद ले अश्रुभरे नयनों से विदा ली। माँ भी पीछे पीछे चलकर सदर दरवाजे तक आयीं और इच्छा न होते हुए भी बेटी को विदा किया। वे बड़ी देर तक वहीं पर अश्रुपूर्ण नयनों से उनकी ओर देखती रहीं। और जब वे आँखों से ओझल हो गये तो माँ ने एक लम्बी साँस फेंकी और वापस घर के अन्दर आकर नलिनी दीदी के कमरे के बरामदे में उत्तर की ओर मुँह करके पैर फैलाकर, दोनों हाथों को गोद पर रखकर, अत्यन्त विमर्ष भाव से जमीन पर ही बैठ गयीं। सारे दिन के परिश्रम

से थकी होने पर भी वे अपने कमरे में बिस्तर पर आराम करने नहीं गयीं। स्थिर दृष्टि से उन्हें बैठा देख ऐसा लगा कि वे विदा लेकर दूर जानेवाली सन्तानों के सम्बन्ध में ही सोच रही हैं। कुछ समय बाद एक महिला ने देखा कि भक्त की स्त्री अपने अँगोछे को वहीं भूल गयी है। वह उसे उठाकर माँ के पास ले आयी। माँ अत्यन्त दुःखित हो खेद प्रकट करने लगीं। यह देख एक लड़का उठा और अँगोछे को लेकर उन्हें देने के लिए भागा। वे लोग अधिक दूर नहीं जा पाये थे। गाँव के छोर पर स्थित बाँड़ुज्जे तालाब को पार कर उन लोगों ने खेतों का रास्ता पकड़ा ही था कि लड़का अँगोछे को लेकर पहुँच गया। वे अँगोछे को देख लज्जित हुए, धन्यवादपूर्वक उसे ग्रहण किया और पुनः आनन्दपूर्वक चलना शुरू किया। लड़के ने आकर माँ को खबर दी। माँ का मन प्रसन्न हुआ।

माँ तब भी शोकाच्छन्न हृदय से वहीं बैठी रहीं। स्वगत दो-एक बात कहकर अपने हृदय का ताप कम करतीं। बेटा अँगोछे का समाचार देकर बाहर के कमरे आराम करने जा ही रहा था कि उसने माँ का शोकार्त कण्ठ से रोना सुना। माँ रुदन करते हुए कह रही थीं, 'अहा-हा, बेटी मेरी, कल नहाने के बाद नहीं पहन पाएगी! ज्योंही साड़ी खोजेगी, उसे ख्याल आएगा कि वह तो माँ के घर ही भूल आयी हूँ।' बेटा व्यग्र हो लपककर माँ के पास आया। भक्त महिला ने स्नान के बाद अपनी गीली

साड़ी पुण्यतालाव के तीर पर सुखायी थी। जाते समय उसे लेना भूल गयी। माँ व्याकुल होकर रोने लगीं। अभी तक जो शोक का उच्छ्वास हृदय में दवा पड़ा था, वह अव फूटकर आ गया। माँ खेद प्रकट करने लगीं। कोई एक निःसन्तान महिला रूक्षता से बोल उठी, 'कहाँ कहाँ वह सँभालेगी, इतने कच्चे-बच्चे जो हैं!' उसके इस कर्कश स्वर ने माँ के शोक की मात्रा को और भी वढ़ा दिया। वे आँसू वहाते हुए रुँधे गले से बोलीं, 'भूल जाने की वात तो थी ही। मन क्या छोड़कर जाना चाहता है? एक रात भी नहीं रुक सको, प्राण खोलकर वातें भी तो नहीं कर पायी।' इत्यादि। जव बेटे ने साड़ी की ओर देखा, तो नलिनीदीदी सयाने स्वर में बोल उठीं, 'एक वार तो दौड़ा गया, अव और जाने की जरूरत नहीं, वे लोग अव तक वहुत दूर चले गये होंगे!' पर माँ की ओर देख बेटा स्थिर न रह सका। वह साड़ी हाथ में ले माँ से बोला, 'वे लोग अधिक दूर नहीं गये हैं, अभी दे आता हूँ।' माँ के मुख पर प्रसन्नता फैल गयी, स्नेहसिक्त स्वर में बोलीं, 'बेटा! धूप है, छाता ले जाओ।' भक्त दम्पती सचमुच बहुत दूर चले गये थे, गिष्टे गाँव को पार कर वड़े रास्ते पर अपनी बैलगाड़ी के पास आ पहुँचे थे। जव उन्होंने लड़के को दौड़कर आते देखा, तो वे अतीव विस्मित हुए। जव साड़ी पर नजर पड़ी, तो उन्हें ख्याल आया कि उसे तो धूप में सुखाने डाला था, उसे लेना भूल गये। भक्त-दम्पती लज्जा से गड़-से गये। वे अफसोस करते हुए

विनीत भाव से कहने लगे कि इतनी तकलीफ सहकर साड़ी को लाने की जरूरत नहीं थी। पर जब बेटे ने माँ के दुःख और उद्वेग की बात बतायी, तो पहले उनका मन विस्मित और स्तब्ध हो गया, दूसरे ही क्षण माँ के स्नेह के स्पर्श ने उनकी देह को पुलकित और हृदय को विगलित कर दिया। जय माँ ! यह क्या किसी बनायी माँ का का सन्तान के प्रति स्नेह है ! एक क्षण के मिलन से ऐसा सम्पर्क स्थापित करना सम्भव नहीं ! क्षण भर का मिलन! आँखों के देखे जीवन में और होगा कि नहीं कौन जाने ! पर जिस स्नेह का स्पर्श भक्त-दम्पती ने पाया, वह चिर-स्थायी, अटूट हो गया। यह मानो माँ से बिछुड़ी, रास्ते रास्ते भटकती सन्तान ने दीर्घकाल के बाद माँ को पाया हो।

('उद्‌बोधन' से साभार) (क्रमशः)

श्रीरामकृष्ण जीवों के कल्याण के लिए बार बार अवतीर्ण होते हैं, शक्तिस्वरूपिणी माँ भी साथ साथ आती हैं। श्रीरामकृष्ण के साथ उनके इस नित्य के सम्बन्ध को वे योग्य स्थल में प्रकट भी करती थीं। इसलिए मेदिनीपुर के नलिनी बाबू ने जब एक बार प्रश्न किया, "माँ, सब अवतारों में क्या आप ही आई हैं ?" तब माँ ने उत्तर दिया, "हाँ, बेटा।"

धर्म प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान——बलराम मन्दिर, कलकत्ता

३० जनवरी, १९१८

रविवार, सबेरे सात वजे। महाराज छोटे कमरे में स्थिर भाव से चुपचाप बैठे हुए हैं। साधु, ब्रह्मचारी और भक्तगण एक-एक करके आकर प्रणाम करके बैठे। उन्होंने सबको सम्बोधन करते हुए कहा——बड़े सबेरे उठना अच्छा है। रात बीतती है, पौ फटती है; दिन बीतता है रात आती है,——यह सन्धिक्षण संयम का समय है। इस समय प्रकृति बहुत शान्त रहती है——यह समय जप-ध्यान के विशेष अनुकूल है। इस समय सुषुम्ना नाड़ी चलती है, तव दोनों नाक द्वारा निःश्वास चलता है। नहीं तो सर्वदा इड़ा या पिंगला नाड़ी चलती है, अर्थात् एक नाक से निःश्वास चलता है। ऐसे समय चित्त चंचल रहता है। योगी लोग हमेशा watch (नजर) रखते हैं कि सुषुम्ना नाड़ी कव चलती है। उस समय वे चाहे जिस काम में क्यों न हों, सव छोड़कर ध्यान करने बैठ जाते हैं।

मन को दो उपायों से स्थिर करना पड़ता है। प्रथम—किसी निर्जन स्थान में जाकर मन को संकल्प-विकल्प रहित करके ध्यान-धारणा करना। द्वितीय——अच्छे अच्छे thoughts (विचार) लेकर चिन्तन करते करते मन को develop (उन्नत) करना। जिस तरह गाय को खिलाने से वह दूध देती है, मन को भी उसी तरह food (खाद्य)

चाहिए, और वह है ध्यान, जप, सच्चिन्तन इत्यादि ।

अनेक साधक ऐसे हैं, जो मन को छोड़ देते हैं और बैठे बैठे केवल देखते रहते हैं कि मन क्या कर रहा है । आखिर मन जब घूम-घूमकर किसी भी तरह शान्ति नहीं पाता, तब अपने आप ही भगवान् की तरफ जाता है, उनके शरणागत होता है। यदि तुम मन को देखोगे, तो मन भी तुम्हें निश्चय ही देखेगा। अतएव मन को सदा-सर्वदा watch करना (देखते रहना) चाहिए। साधना के लिए निर्जन स्थान बहुत ही अच्छा है । इसलिए ऋषि-मुनि हिमालय और गंगातीर select (पसन्द) करते थे ।

मन से आसक्ति-त्याग ही त्याग है। हजारों वस्तुएँ क्यों न आएँ पर यदि आसक्ति न हो, तो कोई हानि नहीं होती। फिर, इधर है तो कुछ भी नहीं, पर यदि आसक्ति है, तो सब कुछ है। साधना के द्वारा मन को transparent (निर्मल) करना चाहिए, नहीं तो भगवान् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता । struggle, struggle (चेष्टा, चेष्टा) । जिसमें struggle (चेष्टा करने की इच्छा) नहीं आयी है, वह तो lifeless (मृत) है। जी-जान से यह struggle (चेष्टा) यदि रहे, तो उसका next step (बाद की अवस्था) है शान्ति। सबसे सहज साधना है ——सर्वदा उनका स्मरण-मनन करना । उन्हें बिलकुल अपना जानना होगा। बाहर जैसे हम अपने आत्मीय-स्वजनों को खिलाते हैं, पहनाते हैं तथा उन लोगों के साथ बातचीत, व्यवहार आदि करते हैं, वैसे ही जब मनोराज्य में भी चलेगा, अर्थात् जब हम वहाँ

भगवान् को खिलाएँगे, पहनाएँगे, उनके साथ बातचीत, व्यवहार आदि करेंगे, तभी शान्ति मिलेगी।

उनका कार्य क्या समझा जा सकता है ? वे अनन्त हैं, फिर भी सान्त हैं। मनुष्य के रूप में भी वे आते हैं। पहले-पहल काकभुशुंडि ने रामचन्द्र को मनुष्य समझा था, इसीलिए उन्हें त्रिलोक में कहीं भी स्थान न मिला। बाद में उनकी कृपा से वे उन्हें भगवान् के रूप में समझ सके और तब स्तव-स्तुति के द्वारा उन्हें प्रसन्न किया। भगवान् किसे किस पथ से ले जाते हैं, यह समझना बुद्धि के बस की बात नहीं। वे कभी सुगम पथ से, तो कभी कँटीले पथ से, और कभी दुर्गम पहाड़-पर्वत के रास्ते ले जाते हैं। उनके शरणागत हो पड़े रहने के सिवा और कोई उपाय नहीं।

स्थान—बलराम मन्दिर, कलकत्ता

४ फरवरी, १९१८

प्रश्न—महाराज, आपने उस दिन कहा था, मन को दो उपायों द्वारा स्थिर करना चाहिए। मैं किस उपाय से करूँ ?

उत्तर—मन को बलपूर्वक इष्ट के पाद पद्मों में लगा दो।

प्रश्न—किस जगह इष्टमूर्ति का ध्यान करूँ—मस्तिष्क में या हृदय में ?

उत्तर—हृदय में ध्यान करना।

प्रश्न—हृदय में किस तरह ध्यान करूँ ?

उत्तर में महाराज ने बतला दिया कि किस प्रकार

बैठना होगा और किस तरह हृदय में चिन्तन करना होगा।

प्रश्न——हृदय में हड्डी-मांस इत्यादि हैं। वहाँ पर इष्ट-मूर्ति का चिन्तन कैसे करूँगा ?

उत्तर——हड्डी-मांस के बारे में चिन्तन ही मत करना। वे ठीक हृदय में हैं, इस भाव से चिन्तन करना। पहले-पहल एक दो बार हड्डी-मांस के बारे में चिन्तन भले ही हो, पर बाद में मन में वह विचार आएगा ही नहीं ——केवल इष्ट-मूर्ति के बारे में विचार आएगा।

प्रश्न——इष्टमूर्ति का क्या तात्पर्य ? जो रूप चित्र और मूर्ति में है, ठीक उसी रूप का तो ?

उत्तर——हाँ, उसी रूप का, पर ऐसा सोचना कि वह प्राणमय और ज्योतिर्मय है।

प्रश्न——सुना है, मंत्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए जप करना चाहिए। क्या मंत्र का प्रत्येक अक्षर लेकर चिन्तन करना चाहिए, या फिर पूरे मंत्र का एक साथ ही चिन्तन करना चाहिए ?

उत्तर——मन्त्रार्थ क्या है, जानते हो ? जैसे नाम लेकर पुकारना। तुम्हारा नाम अमुक है। तुम्हारा नाम लेकर पुकारने से तुम्हारा रूप भी मेरे मानस पटल पर आ जायगा उसी प्रकार मंत्र के जप के साथ साथ तत्सम्बन्धित रूप अर्थात् इष्टमूर्ति का ध्यान करना होगा।

प्रश्न——जप क्या जोर से करना होगा या मन ही मन ?

उत्तर——जब अकेले में निर्जन स्थान में जप करो, तब

तुम स्वयं अपने कान से सुन सको, इस तरह करना। और यदि अन्य लोग समीप हों, तो मन ही मन करना।

स्थान--बलराम मन्दिर, कलकत्ता

६ फरवरी, १६१८

प्रश्न--जव करने के लिए जव बैठता हूँ, तो मंत्र ज्योतिर्मय अक्षरों में कपाल के पास ज्वलन्त दिखायी देता है। स्पष्ट देख पाता हूँ मानो वह ज्योति से लिखा गया है। यह देखने के वाद इष्टमूर्ति फिर नहीं देख पाता। इस मंत्र को ही सिर्फ देखता हूँ।

उत्तर--वह वहुत ही अच्छा और शुभ लक्षण है। दोनों को ही देखना होगा। मंत्र है नामब्रह्म। मंत्र भी देखना और इष्टमूर्ति को भी देखने की चेष्टा करना।

प्रश्न--इष्ट का ध्यान पहले क्या उनके मुख से आरम्भ करूँ?

उत्तर--पहले श्रीचरण की वन्दना करना और श्रीचरण से ध्यान आरम्भ करना। वाद में मुख, हाथ, पैर जो आये आने दो।

प्रश्न--इतने वड़े मन्त्र की क्या आवश्यकता है?

उत्तर--नहीं, उसकी आवश्यकता है। मंत्र में विशेष शक्ति है--खूब जप करना।

प्रश्न--वहुत से लोग कहते हैं, जप के समय माला का तर्जनी से लगना एक दोष है।

उत्तर--क्या तुम तर्जनी से जप करते हो? तर्जनी से जप न करना ही अच्छा है। फिर भी तुम्हें यदि असु-

विधा मालूम होती हो, तो तर्जनी से जप कर सकते हो——उसमें दोष नहीं होगा।

प्रश्न——मन को कैसे स्थिर किया जाय ?

उत्तर——प्रतिदिन ध्यान करना चाहिए। ध्यान करने का वहुत सुन्दर समय है सुवह। ध्यान करने से पहले थोड़ा शास्त्रपाठ करने से मन सहज ही एकाग्र हो जाता है। ध्यान के वाद कम से कम आधा घण्टा चुपचाप बैठना जरूरी है, क्योंकि ध्यान करने के समय उसका effect (फल) नहीं भी हो सकता है; वह कुछ वाद में भी हो सकता है। इसलिए ध्यान के तुरन्त वाद मन को किसी सांसारिक अथवा व्यर्थ के विषय में नहीं लगाना चाहिए। उससे वहुत हानि होती है।

पहले-पहल जप-ध्यान का अभ्यास करने की वहुत आवश्यकता है। यदि अच्छा न भी लगे, तो भी नित्य अभ्यास करना होगा। केवल अभ्यास से वहुत काम वन जाता है। प्रतिदिन कम से कम दो घण्टे जप करना चाहिए। किसी निर्जन वगीचे में, या नदी के किनारे, या वड़े मैदान में अथवा स्वयं के कमरे में चुप बैठे रहने से भी वहुत समय काम वन जाता है। पहले-पहल एक routine (नियमित कार्यपद्धति) वनाकर काम शुरू करना उचित है। ऐसे किसी भी काम का भार लेना अच्छा नहीं, जिससे routine (नियमित कार्य पद्धति) टूट जाय।

स्थान——बलराम मन्दिर, कलकत्ता

६ फरवरी, १६१८

प्रश्न--इष्टमूर्ति का ध्यान करते करते यदि अन्य देवी-देवताओं की मूर्ति सामने आए, तो क्या करना ?

उत्तर--समझना कि यह बहुत अच्छा है। सोचना कि मेरे इष्ट ही नाना देवी-देवताओं के रूप में मेरे पास रहे हैं। वे एक भी हैं, फिर अनेक भी। स्वयं की इष्ट-मूर्ति को भी देखना और अन्य रूपों में जो आते हैं, उन्हें भी देखना। कुछ दिन बाद देखोगे कि अन्य सारे रूपों का इष्ट में ही लय हो गया है।

अमावस्या, पूर्णिमा और अष्टमी तिथि को तथा कालीपूजा, जगद्धात्री पूजा और दुर्गापूजा के समय नियम बनाकर खूब जप-ध्यान करना। समग्र नारी-जाति को मातृवत् देखना। किसी को कोई वचन देने पर किसी भी हालत में उसे पूरा करना। यदि तुम्हें सन्देह हो कि कोई बात पूरी नहीं कर सकोगे, तो कहना, चेष्टा करूँगा।

प्रश्न--सुना है, जप-ध्यान करने के पहले गुरुपूजा करनी चाहिए। मैं तो वह सब नहीं जानता।

उत्तर--पहले इष्ट के समान हृदय में गुरु का ध्यान कर लेना चाहिए। बाद में गुरु और इष्ट एक हैं, यह चिन्तन कर गुरु को इष्ट में लय करके फिर इष्ट का ध्यान या जप करना चाहिए।

स्थान—बलराम मन्दिर, कलकत्ता

२१ जून, १९१८

बुधवार, सवेरे लगभग ९ बजे हैं। बड़े कमरे में महा-राज टहल रहे हैं. ऐसे समय ढाका के एक भक्त ने

आकर उन्हें प्रणाम किया। महराज ने उससे कुशल-प्रश्न पूछा और ढाका मठ तथा वहाँ के भक्तगण कैसे हैं यह सव खवर ली, थोड़ी देर वाद वागवाजार के चुनीवावू (जिन्हें ठाकुर 'नारायण' कहकर पुकारते थे) उपस्थित हुए। महाराज ने उनके साथ विविध विषयों पर चर्चा करते हुए कहा—माया के कारण मन-प्राण सव low (निम्नगामी) हो जाते हैं। ठाकुर कहते थे, "पंचभूत के चपेटे में पड़कर ब्रह्म रोता है।" पहले साधन-भजन करके ढाई* को छू लेने से वाद में दस हजार संसार करने पर भी कुछ नहीं होगा।

मायावद्ध जीव समझता नहीं कि इस जगत् में देह धारण करना वहुत ही कष्टकर है। मनुष्य का यह शरीर कुछ भी नहीं है—दिन दिन decay (क्षय) हो रहा है, उसे होश नहीं कि माया-मोह के कारण जीवन का उद्देश्य भूल-जाने से वारम्वार जन्म-मृत्यु की यंत्रणा भोग करनी पड़ रही है। देह-धारण में वहुत ही कष्ट है, किन्तु इस मनुष्य-जन्म में ही भगवान् का लाभ भी होता है। इसलिए ऐसे कर्म करने होंगे, जिससे फिर से जन्म न हो। जिस किसी भी उपाय से हो, उन्हें प्राप्त कर इस जन्म-मृत्यु के हाथ से निस्तार पाना होगा।

प्रश्न—महाराज, निराकार ध्यान कैसे होता है ?

उत्तर—वहुत advanced (उन्नत) हुए विना निराकार ध्यान नहीं होता। पहले स्थूल, वाद में सूक्ष्म, सूक्ष्म के वाद कारण, और उसके वाद महाकारण में लय होता है।

* खेल का खम्भा।

सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जीवन

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में एक दूसरे स्थान पर हम श्रीरामकृष्ण को तथाकथित धर्म और यथार्थ धार्मिकता के पार्थक्य के प्रति हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हुए पाते हैं। यथार्थ धार्मिकता तो सांसारिक कर्तव्यों के समुचित निर्वाह के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है। वे कहते हैं––

' . . . ऐसे भी लोग हैं, जो मुँह से बड़े बड़े श्लोक और शास्त्रों की बातें झाड़ते हैं, पर व्यवहार में बिलकुल भिन्न हैं। रामप्रसन्न हठयोगी के लिए अफीम और दूध जुटाने में ही हरदम लगा रहता है। वह कहता है कि मनु महाराज मनुष्य को साधु-सेवा करने का उपदेश देते हैं। पर उधर उसकी माँ के पास पेट भरने के लिए पर्याप्त अन्न नहीं। वह अपनी जरूरत की चीजें लेने स्वयं पैदल चलकर बाजार तक जाती है। इससे मुझे बड़ा गुस्सा आता है।'

यह अच्छी तरह जानते हुए कि इससे सम्बन्धित कौन से प्रश्न उठाये जा सकते हैं, श्रीरामकृष्ण उपर्युक्त सन्दर्भ में ही आगे कहते हैं—

'पर देखो, यहाँ एक बात विचारणीय है। जब व्यक्ति ईश्वर के दिव्य प्रेम में उन्मत्त हो जाता है, तब भला कौन

पिता, कौन माता और कौन पत्नी ? उसका ईश्वर प्रेम इतना उत्कट होता है कि वह उसमें पागल हो जाता है। तब उसका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। वह समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है। यह दैवी उन्माद क्या है ? इस अवस्था में मनुष्य संसार को भूल जाता है। वह स्वयं अपने शरीर की भी, जो सबको इतना प्रिय है, सुध विसरा देता है। चैतन्य को ऐसा उन्माद हुआ था। . . .'

सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जीवन पर श्रीरामकृष्ण के महत्त्वपूर्ण उपदेशों का दूसरा पक्ष ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से उनके हुए वार्तालाप में सुन्दर रूप से अभिव्यक्त होता है। विद्यासागर यथार्थतः एक महान् पुरुष थे--विद्या, चरित्र, उच्च विकसित सामाजिक चेतना और शान्त परोपकारिता, इन सबमें महान् थे। वे सामान्य संसारी पुरुषों की स्वार्थपरता से बहुत ऊँचे उठ चुके थे और पारोपकारिक कार्यों में गहरे रूप से संलग्न थे। ऐसे आदरणीय पुरुषों के समक्ष श्रीरामकृष्ण ने यह व्यक्त किया कि परोपकार तभी सार्थक होता है, जब वह सच्ची आध्यात्मिकता में, ईश्वर के प्रेम में पर्यवसित होता है। उन्होंने कहा--

'जिन कार्यों में तुम लगे हुए हो, सब अच्छे हैं। यदि तुम इन्हें निःस्वार्थ भाव से, अहंकार को त्यागकर, कर्त्तापन के भाव से रहित होकर कर सकते हो, तो ये बहुत ही अच्छे हैं। ऐसे कर्मों के द्वारा व्यक्ति में ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति का विकास होता है और वह अन्त में उन्हें पा

लेता है। . . . तुम्हारे हृदय में सोना गड़ा हुआ है, पर तुम्हें अभी उसका पता नहीं। उस पर मिट्टी की एक पतली परत पड़ी हुई है। ज्योंही तुम्हें उसका पता चलेगा, तुम्हारे ये सब कर्म कम हो जायँगे। . . . आगे बढ़ चलो। . . . निःस्वार्थ प्रेम के द्वारा हृदय में ईश्वर-प्रेम का विकास होता है। तब समय पाकर मनुष्य उनकी कृपा से उनका साक्षात्कार कर लेता है। ईश्वर को देखा जा सकता है। उनसे बातें की जा सकती हैं, जैसे मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ।'

विद्यासागर अपने महनीय चरित्र के कारण इस उदात्त संदेश को प्राप्त करने की पात्रता रखते थे और उन्हें इस सन्देश की आवश्यकता भी थी।

हमें अपनी अति उदात्त क्रियाओं को भी निरीक्षण में रखना चाहिए, जिससे भला करने का सूक्ष्म रेशमी आवरण हमारी दृष्टि को कहीं ढक न ले। ईशान वय और साधना दोनों दृष्टि से बड़े थे, पर वे भला करने के एक प्रकार के सांसारिक पुण्य में कहीं अटक गये थे। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा——

'तुम यह मध्यस्थता और नेतागिरी के चक्कर में में क्योंकर पड़े हो? मैंने सुना कि तुम लोगों के झगड़े दूर करते हो और वे लोग तुम्हें मध्यस्थ बनाते हैं। तुम तो यह काम एक अरसे से कर रहे हो। जो ऐसे कार्यों में रुचि रखते हैं, उन्हें यह सब करने दो। अब तुम अपने को अधिकाधिक ईश्वर के चरणों में लगाओ। . . . अपने

चापलूसों की बातें सुनकर अपने आप को ठगो मत। चाप-लूस लोग दुनियादार को घेरा करते हैं। गीध गाय की लाश को घेरा करते हैं। . . . मध्यस्थता और नेतागिरी? कितनी तुच्छ हैं ये! दान देना और दूसरों का भला करना? तुमने यह सब बहुत कर लिया। जो अपने को इन्हीं बातों में खपाना चाहते हैं, वे एक भिन्न वर्ग के व्यक्ति हैं। अब समय आ गया है कि तुम अपने मन को भगवान् के चरणारविन्द में लगाओ। यदि तुम भगवान् का साक्षात्कार कर लोगे, तो बाकी सब कुछ पा लोगे। . . . उन्मत्त हो जाओ! ईश्वर के प्रेम में उन्मत्त हो जाओ! लोग जान लें कि ईशान पागल हो गया है और सांसारिक कर्तव्यों का पालन करने में अब असमर्थ है। तब फिर लोग तुम्हारे पास नेतागिरी और मध्यस्थता के लिए नहीं आयँगे। . . .'

संसार के कर्तव्यों का पालन हमें इस प्रकार करना चाहिए, जिससे प्रत्येक कर्म हमारी सांसारिकता को न्यून करे और हमें ईश्वर के निकट ले जाय, उनसे दूर नहीं। यह सम्भव है कि हम संसार में बहुत से धार्मिक कृत्य करें, खूब समाज-सेवा करें, और अधिकाधिक संसारी बन जायँ तथा आध्यात्मिकता का ह्रास कर बैठें। यदि हम ऐसा नहीं होने देना चाहते हैं, तो हमें अपने समस्त विचारों और कर्मों को अपने जीवन के मूलभूत कर्तव्य और चरम लक्ष्य––ज्ञानलाभ––के साथ सम्बन्धित करने का सतत प्रयास करना होगा। गृहस्थों के प्रति अपने समस्त उप-

देशों में श्रीरामकृष्ण उनके आध्यात्मिक लक्ष्य को ज्वलन्त शब्दों में रखते और यह प्रदर्शित करते कभी थकते न थे कि वे संसार में अपने प्रत्येक कर्तव्यकर्म के द्वारा कैसे भगवान् की ओर बढ़ सकते हैं और बढ़ें।

(३)

अपने उपदेशों में श्रीरामकृष्ण अपनी तूलिका द्वारा संसार में रहनेवाले अपने आदर्श पुरुष और नारी की छवि अंकित करते हैं। वे दिखने में कैसे हैं? वे किससे सरूपता रखते हैं?

(क) श्रीरामकृष्ण का संसार में रहनेवाला आदर्श पुरुष वह है, जिसमें बुद्धि और हृदय के समस्त गुणों का पूर्णतः विकास और उनका समुचित सन्तुलन हुआ है।

(ख) वह जहाँ भी रहे, अपने को अच्छी तरह निभा लेता है।

(ग) वह ईश्वर के प्रति शिशुवत् विश्वास और प्रेम से सराबोर रहता है, तथापि दूसरों के साथ उसके व्यवहार में कहीं कोई कोर-कसर नहीं रहती।

(घ) जब वह सांसारिक कर्मों में लगा रहता है, तो वह पूरी तरह से एक व्यावसायिक बना रहता है।

(ङ) विद्वानों के समुदाय में वह एक श्रेष्ठतर विद्वान् के रूप में अपनी प्रतिष्ठा कायम रखता है तथा वादविवाद में युक्ति-तर्क की अपनी अद्भुत क्षमता प्रदर्शित करता है।

(च) अपने माता-पिता के प्रति वह आज्ञाकारी और स्नेहपूर्ण होता है; अपने आत्मीयों और मित्रों के प्रति

स्नेहशील और मधुर होता है; अपने पड़ोसियों के प्रति वह दयालु और सहानुभूतिपूर्ण होता है और उनके लिए कुछ करने को सदैव तत्पर रहता है।

(छ) अपनी पत्नी के लिए वह मानो साक्षात् प्रेम का देवता ही होता है। वह उसे प्यार से सह-यात्री के समान ईश्वर की ओर ले जाता है।

(ज) वह अपने कर्तव्यकर्म अनासक्त होकर करता है; अपनें बच्चों का पालन-पोषण समुचित सावधानीपूर्वक करता है, जब तक कि वे बालिग नहीं हो जाते। यदि पत्नी पतिव्रता है, तो उसके लिए इतना रख जाता है, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् भी पर्याप्त हो।

(झ) वह अपने समस्त कर्मों का फलाफल ईश्वर को सौंप देता है।

(ञ) दिन और रात वह केवल भक्ति के लिए प्रार्थना करता है तथा अन्य कुछ नहीं चाहता।

(ट) श्रीरामकृष्ण की धारणा की आदर्श पत्नी में काम और क्रोध की मात्रा बहुत कम हुआ करती है। वह शरीर से पवित्र होती है तथा मन से शुद्ध।

(ठ) वह अपने पति को अतीव इन्द्रियप्रियता के लिए कभी बढ़ावा नहीं देती।

(ड) वह स्नेह, दयालुता, भक्ति, लज्जा और अन्य महद्‌गुणों से युक्त होती है। ऐसी पत्नी वात्सल्यभाव से सबकी सेवा करती है।

(ढ) वह अपने पति के ईश्वरानुराग को बढ़ाने में

सहायक होती है ।

(ण) वह फिजूल खर्च इसलिए नहीं करती कि कहीं उसके पति को कड़ा परिश्रम न करना पड़े और इस प्रकार ईश्वर-चिन्तन के लिए वह समय ही न पाये ।

माँ सारदा इस आदर्श नारी के सन्दर्भ में लज्जा और सहनशीलता इन दो गुणों पर सर्वाधिक वल देती हैं । वे कहती हैं--

'नारी का एकमात्र आभूषण है उसकी लज्जा । पुष्प तव अपने को सर्वाधिक धन्य मानता है, जव यह प्रभु के चरणों में निवेदित होता है । अन्यथा उसका वृक्ष पर मुरझाकर विखर जाना ही अच्छा । जव मैं किसी छैले को फूलों का गुच्छा हाथ में ले, नाक के पास ले सूँघते और यह कहते "अहा ! कैसी वढ़िया सुगन्ध है !" सुनती हूँ, तो मुझे वड़ी पीड़ा होती है । शायद दूसरे ही क्षण वह उसे जमीन पर फेंक देता है । वह उसे जूते से रौंद भी डाल सकता है । वह उसकी ओर ताकता तक नहीं ।'

सहनशीलता के सम्वन्ध में उन्होंने कहा--

'स्त्रियों को इतनी जल्दी गुस्सा नहीं करना चाहिए उन्हें सहनशीलता का अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिए । . . . स्त्रियाँ साधारणतया वड़ी संवेदनशील होती हैं । एक शब्द ही उन्हें विचलित कर देता है । और शब्द भी आजकल वड़े सस्ते हैं । उनमें धैर्य होना चाहिए और कठिनाइयों के वावजूद उन्हें अपने माता-पिता या पति के साथ मिलकर चलने की कोशिश करनी चाहिए ।'

जो दम्पती ईश्वर की ओर जाना चाहते हैं, उनके पारस्परिक भौतिक सम्बन्धों में शास्त्र संयम का निर्देश देते हैं।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं––

'विवाहित पुरुष के रूप में तुम्हारा पथ यही है कि दो-एक बच्चे हो जाने के बाद तुम लोग भाई-बहिन की तरह रहो और सतत भगवान् से प्रार्थना करते रहो कि तुम्हें पूर्ण आध्यात्मिक और संयम का जीवन बिताने की शक्ति दें।'

एक दूसरे अवसर पर उन्होंने एक गृहस्थ भक्त से कहा––

'तुम्हें पत्नी का एकदम त्याग नहीं करना चाहिए; गृहस्थ के लिए अपनी पत्नी के साथ रहने में कोई हानि नहीं है। पर एक-दो बच्चे हो जाने के बाद पति और पत्नी को भाई-बहिन के समान रहना चाहिए।'

फिर, श्रीरामकृष्ण ने यह भी कहा––

'आध्यात्मिक जीवन की दो बाधाएँ हैं––कामिनी और कांचन। कामिनी के प्रति आसक्ति मनुष्य को ईश्वर की ओर जानेवाले मार्ग से हटा देती है।'

हमें यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त दोनों उपदेशों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। पुरुष के लिए नारी एक बाधा है; नारी के लिए पुरुष एक बाधा है। हमें उपर्युक्त उपदेश को इस प्रकार समझना चाहिए कि वह व्यक्ति की कामभावना ही है, जो उसे शरीर में

बाँध देती है, और ईश्वर की ओर नहीं जाने देती। आध्यात्मिक अनुभव तभी सम्भव होता है, जब पुरुष या नारी अपने देह-बोध से ऊपर उठ जाती है। बाधा की जड़ स्वयं व्यक्ति में है, दूसरे में नहीं।

अतः पति और पत्नी को सीख दी गयी है कि वे भौतिक इच्छाओं की कुछ सन्तुष्टि करके ईश्वरानुभूति की यात्रा सम्पन्न करने के लिए एक आध्यात्मिक मैत्री के सूत्र में बँधकर भाई-बहन के समान रहें। पर यह बात व्यवहार में तब तक नहीं आ सकती, जब तक पति और पत्नी दोनों शुद्धचित्त और एक दूसरे के प्रति निष्ठावान न हों। और सर्वोपरि, ईश्वर-कृपा तो आवश्यक है ही। इसीलिए सतत प्रार्थना की सलाह दी गयी है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या एक गृहस्थ भक्त अपने आध्यात्मिक भविष्य को बिना क्षति पहुँचाये अधिक धन कमाने की चेष्टा कर सकता है? एक भक्त ने यही प्रश्न स्वयं श्रीरामकृष्ण से किया था, 'महाराज! क्या मैं कुछ अधिक कमाने का प्रयास करूँ?' श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया था, 'हाँ यदि तुम विवेकपूर्ण पारिवारिक जीवन के लिए उसका उपयोग करो। पर सावधानी रखना कि उचित उपाय से ही धन आये।'

उन्होंने यह भी कहा, 'गृहस्थों के लिए धन एक माध्यम है, जिससे वे अन्न-वस्त्र और रहने की जगह की व्यवस्था कर सकते हैं तथा भगवान्, भक्त और साधुओं की सेवा कर सकते हैं। पर वे बोले, 'धन का संचय ठीक

नहीं ।' और विवेकपूर्ण बचत को स्वार्थपूर्ण संग्रह से पृथक् करते हुए उन्होंने निर्देश दिया कि देवऋण, पितृऋण तथा साधु-महात्माओं, पत्नी और बच्चों का ऋण चुकाने के लिए तथा जीवन की अन्य अनदेखी आवश्यकताओं के लिए गृहस्थ को अवश्यमेव कुछ बचत करनी चाहिए ।

एक गृहस्थ भक्त के जीवन से सम्बन्धित ऐसे और भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका उत्तर श्रीरामकृष्ण ने दिया है ।

एक भक्त ने पूछा, 'महाराज ! हम तो गृहस्थ हैं; हमें अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन कब तक करना चाहिए ?'

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया--

'तुम्हें अपने सांसारिक कर्तव्यों का अवश्यमेव पालन करना चाहिए। तुम्हें अपने बच्चों को बड़ा करना चाहिए, अपनी पत्नी का भरण-पोषण करना चाहिए और उसके लिए ऐसा सोचकर व्यवस्था करके रखना चाहिए कि कहीं मेरी मृत्यु न हो जाय । यदि तुम ऐसा न करो, तो मैं तुम्हें निष्ठुर कहूँगा । शुकदेव जैसे सन्त भी दयावान थे । जिसमें दया नहीं, वह मनुष्य ही नहीं ।'

भक्त का दूसरा प्रश्न था, 'हम अपने बच्चों का भरण-पोषण कब तक करें ?'

'जब तक वे बालिग नहीं हो जाते । जब चिड़िये के बच्चे अपनी देखभाल करने लायक बड़े हो जाते हैं, तो माँ--चिड़िया उन्हें चोंच मारती है और अपने पास नहीं

आने देती ।'

भक्त ने जो तीसरा प्रश्न पूछा, वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण था, 'महाराज ! गृहस्थ का अपनी पत्नी के प्रति क्या कर्तव्य है ?'

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया—

'यदि पत्नी तुम्हारे प्रति निष्ठावान है, तो तुम्हें उसे आध्यात्मिक सीख देनी चाहिए और अपने जीवित रहते उसका भरण-पोषण करना चाहिए तथा ऐसी व्यवस्था छोड़ जानी चाहिए कि तुम्हारी मृत्यु के बाद भी उसकी जीविका ठीक चलती रहे । पर यदि तुम भगवद्-ज्ञान में उन्मत्त हो, तो तुम्हारे लिए फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। तब तो ईश्वर स्वयं तुम्हारे कल की चिन्ता करेंगे, यदि तुम न कर सको तो । यदि तुम भगवद्भाव में विभोर हो, तो भगवान् स्वयं तुम्हारे परिवार की देखभाल करेंगे।'

जो गृहस्थ ईश्वर की ओर जाना चाहते हैं, उनके समक्ष एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह आता है कि अपनी सांसारिक एवं आध्यात्मिक रुचियों का समन्वय वे कैसे करें ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, 'एक हाथ से अपना (संसार का) काम करो और दूसरे हाथ से भगवान् के चरणों को पकड़े रखो। जब संसार में करने के लिए कोई काम न हो, तो दोनों हाथों से उनके श्रीचरणों को पकड़कर हृदय से लगा लो ।'

अन्यत्र अपने उपदेश को सटीक उपमाओं के माध्यम से अधिक स्पष्ट करते हुए वे गृहस्थ के जीवन की इस

सर्वाधिक कठिन समस्या के सन्दर्भ में कहते हैं—'संसार में रहो, पर घड़े को अपने सिर पर स्थिर बनाये रखो; अर्थात् मन को दृढ़तापूर्वक भगवान में लगाये रखो।

'एक बार मैंने बैरक में रहनेवाले सिपाहियों से कहा—संसार में अपना कर्तव्यकर्म करते चलो, पर ध्यान रखो कि मृत्यु का मूसल कभी भी तुम्हारे सिर को फोड़ डालेगा। उस सम्बन्ध में सावधान रहो।

'कामारपुकुर में मैंने बढ़ई के घर की औरतों को ढेंकी से धान कूटकर चूड़ा बनाते देखा है। एक औरत ढेंकी के एक छोर को पैर से नीचे मारती है और दूसरी औरत अपने बच्चे को दूध पिलाते पिलाते दूसरे छोर पर धान कूटने के लिए बने गढ़े में धान पलटती जाती है। उसका ध्यान सदैव इस पर रहता है कि ढेंकी का मूसल कहीं उसके हाथ को ही न कूट दे। अपने दूसरे हाथ से वह भीगे धान को तवे पर भूनती भी जाती है। यही नहीं, वह ग्राहकों से भी बात करती जाती है; कहती है—तुम पर इतना बकाया है, जाने के पहले हिसाब चुकता कर जाना। इसी प्रकार संसार में अपने विभिन्न कर्म करो, पर अपना मन भगवान् में रखो। इसके लिए अभ्यास आवश्यक है और व्यक्ति को सावधान भी रहना चाहिए। केवल इसी प्रकार वह ईश्वर और संसार दोनों की रक्षा कर सकता है।'

वे यह भी कहते हैं कि संसार में अपने कर्म करते हुए मनुष्य को सतत ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए—'हे प्रभो! मेरे सांसारिक कर्म न्यून से न्यूनतर कर दो; अन्यथा अधिक

कर्मों में उलझ जाने पर मैं देखता हूँ कि मैं तुम्हें भूल गया हूँ। मैं भले ही सोचूँ कि मैं निःस्वार्थ कर्म कर रहा हूँ, पर मैं देखता हूँ कि वह अन्त में स्वार्थपूर्ण ही सिद्ध हुआ है।'

आज के इस युग में जहाँ अहंवादी परोपकारिता को वहुधा गम्भीर धार्मिकता का विकल्प माना जाता है,श्रीराम-कृष्ण की यह चेतावनी वड़ी उल्लेखनीय है। वे कहते हैं—

'तुम जवरदस्ती ऐसे कार्यों की सृष्टि मत करो। केवल ऐसे कर्म हाथ में लो, जो स्वयं होकर तुम्हारे सामने आ जाते हैं और जो नितान्त आवश्यक हैं। ऐसे कर्मों को भी अनासक्त होकर करो।'

जो गृहस्थ ईश्वर की ओर जाने का निष्ठापूर्वक प्रयास करते हैं, उन्हें न केवल अपनी सांसारिक और आध्यात्मिक रुचियों को समन्वित करना जानना चाहिए, वरन् उन्हें इस संसार में, सामान्य जनों की साधारण चर्या से पूर्णतः भिन्न; एक विशेष प्रकार से रहना भी चाहिए। ऐसे साधकों से श्रीरामकृष्ण कहते हैं—

(१) 'संसार में रहो, पर संसारी मत बनो। जैसा कि कहावत है—मेंढक को साँप के सामने भले नचाओ, पर देखना कि साँप कहीं मेंढक को निगल न ले।'

(२) 'नाव पानी में भले ही रहे, पर पानी नाव में न रहे। साधक भले ही संसार में रहे, पर संसार को साधक में नहीं रहना चाहिए।'

(३) 'जो व्यक्ति संसार में रहता तो है पर उसकी आसक्तियों से मुक्त है, उसकी अवस्था कैसी होती है?

वह जल में कमलपत्र के समान होता है, पंक में पाँकाल मछली के समान। दोनों अपने चतुर्दिक वातावरण से अछूते रहते हैं। न तो कमलपत्र जल से स्पर्शित होता है, न पाँकाल मछली पंक से।'

(४) फिर, ऐसे गृहस्थ की तुलना मुर्गाबी से की जा सकती है। वह सतत जल में गोता मारती रहती है, पर एक बार अपने पंखों से झटक दे, तो उसके शरीर में जल का कोई चिह्न नहीं रहता।

उसे किस प्रकार की साधना करनी चाहिए ? माँ सारदा उपदेश देती हैं—'यदि पति और पत्नी में साधना के सम्बन्ध में मतैक्य हो, तो आध्यात्मिक प्रगति अधिक सुगम हो जाती है।'

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि भगवान् को पाने के उपायों में इस युग में विशेषकर गृहस्थों के लिए, जो सर्वाधिक उपयुक्त है, वह है भक्ति का पथ, जिसका कि देवर्षि नारद ने उपदेश दिया है।

नारद के अनुसार, ईश्वर-भक्ति की साधना कई प्रकार से की जा सकती है—उनका सतत स्मरण, ध्यान, उनके नाम का जप, उनकी महिमा का गान, भक्तिपरक ग्रन्थों का स्वाध्याय, भजन का गायन, उनके साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना, सत्संग और कुसंग का त्याग।

श्रीरामकृष्ण इस बात पर विशेष बल देते हैं कि गृहस्थ को विशेष प्रयत्नपूर्वक सत्संग की खोज करनी

चाहिए, क्योंकि सत्संग से मन ऊपर उठता है तथा वह ईश्वर के लिए प्रेम और व्याकुलता को जन्म देता है। वे कहते हैं--

'आध्यात्मिक प्रगति के लिए साधुजनों का संग एक मुख्य उपाय है।'

'. . . संसारी व्यक्ति को सदैव साधुसंग करना चाहिए। यह सभी के लिए आवश्यक है, यहाँ तक कि संन्यासियों के लिए भी। पर गृहस्थ के लिए तो वह विशेष रूप से आवश्यक है। उसे सतत कामिनी और कांचन के बीच में रहना पड़ता है, इसलिए उसका रोग पुराना हो गया है।'

'जैसे लोहार अपनी भट्ठी की आग को भाथी चलाकर बनाये रखता है, उसी प्रकार साधुसंग के द्वारा मन को शुद्ध और दीप्त बनाये रखना चाहिए।'

'आग पर रखी भीगी लकड़ी भी शीघ्र सूख जाती है और अन्त में जलने लगती है। उसी प्रकार साधुसंग संसारी व्यक्तियों के हृदय से लोभ और काम की आर्द्रता को सुखा देता है और तब वहाँ विवेक की अग्नि स्थिर हो जलने लगती है।'

समय समय पर संसारी व्यक्ति को भी एकान्त में जाकर ध्यान करना चाहिए। तब वह अपने आप से कहे, 'दुनिया में कोई ऐसा नहीं, जो मेरा अपना हो। यहाँ जिन्हें मैं अपना कहता हूँ, वे तो केवल दो दिन के लिए हैं। एकमात्र ईश्वर ही मेरे अपने हैं। वे ही मेरे सर्वस्व हैं। अहो !

मैं उन्हें कैसे देख पाऊँगा ?'

फिर, उसे नित्य और अनित्य में विवेक करने का सतत अभ्यास करना चाहिए और ईश्वर से भक्ति और विश्वास के लिए आकुल होकर प्रार्थना करनी चाहिए ।

एक दिन एक भक्त ने वेदना-भरे स्वर में श्रीरामकृष्ण से पूछा, 'महाराज ! बिना पूर्ण त्याग के क्या भगवान् हमें नहीं मिलेंगे ?' श्रीरामकृष्ण नें उत्तर दिया, 'क्यों नहीं, अवश्य मिलेंगे ! . . . मैं सत्य कहता हूँ; तुम संसार में हो इसमें कोई दोष नहीं, पर हाँ, अपने मन को भगवान् की ओर मोड़ना चाहिए, अन्यथा सफल नहीं होगे । एक हाथ से अपने कर्म करो और दूसरे से भगवान् को पकड़े रहो । और जब तुम्हारा काम समाप्त हो, तब दोनों हाथों से भगवान् का पकड़ लो ।'

एक दूसरे अवसर पर, श्रीरामकृष्ण के कुछ प्रेरक उप-देशों को सुनकर एक भक्त हताशा के स्वर में बोल उठा, 'महाराज ! लोगों को फुरसत ही कहाँ है ? उन्हें तो अपने अँगरेज मालिकों की नौकरी करनी है ।' इस पर श्रीराम-कृष्ण बोले--

'अच्छा, तब भगवान् को अपना बकलमा (मुखतार-नामा) दे दो । यदि कोई व्यक्ति किसी भले आदमी को अपने काम का भार सौंप दे, तो क्या वह उसकी कोई हानि करता है ? हृदय के पूरी निष्ठा के साथ भगवान् के शर-णागत हो जाओ और अपने मन की सारी दुश्चिन्ताओं को निकाल भगाओ । भगवान् ने जो कर्म तुम्हें दिये हैं, उनका

पालन करो। बिल्ली का बच्चा किसी उधेड़बुन में नहीं पड़ता; वह बस म्याऊँ-म्याऊँ भर कहता है।'

(४)

तो, हमने श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों के आलोक में प्राय: उन सब समस्याओं पर पूरी तरह से विचार किया है, जो ऐसे विवाहित दम्पतियों के सामने आती हैं, जो धार्मिक हैं और ईश्वर की ओर बढ़ना चाहते हैं। पर सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जीवन केवल धर्मशील विवाहित दम्पतियों के लिए ही नहीं हैं।

ऐसे अनेकों अविवाहित नर-नारियाँ हैं---कुमारियाँ और जरठ कुमारियाँ हैं, कुमार हैं, विधवाएँ और विधुर हैं, जिन्हें जीवन में सांसारिक ढंग से ही रहना पड़ता है।

हम ऐसे नर-नारियों की चिन्ता नहीं करते, जो वैवाहिक बन्धन से दूर रहकर स्वच्छन्द और दुष्ट जीवन बिताते हैं। उन्हें कोई किसी प्रकार सहायता नहीं दे सकता, जब तक कि वे स्वयं पश्चात्तापपूर्वक दुष्कर्मों से अपने को निवृत्त न करें। हम तो ऐसे लोगों की चिन्ता करते हैं, जो अच्छे हैं, निष्ठावान और जिज्ञासु हैं, जो संसार में अकेले रहते हुए ईश्वर की ओर जाने की इच्छा रखते हैं। कतिपय कारणों से वे संन्यास का जीवन नहीं अपना पाते, पर उन्हें एक प्रकार से संन्यासी और संन्यासिनी के समान ही संसार में रहना पड़ता है। यदि वे ऐसा नहीं करते, यदि वे ऐसा नहीं कर सकते, यदि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो जैसा कि सेंट पाल ने कहा है, उनके लिए विवाह करके घर बसाना

ही श्रेयस्कर है ।

कई कारणों से उच्च मानसिकतायुक्त वय:प्राप्त युवक और युवतियाँ, जिन्हें संसार के प्रति कोई विशेष आकर्षण नहीं है, न तो उत्तरदायित्वपूर्ण गृहस्थ होकर सांसारिक जीवन में प्रवेश कर सकते हैं, न संसार का त्याग कर संन्यासी या संन्यासिनी ही बन सकते हैं । कुछ लोग विभाजन रेखा पर बैठकर दोनों पक्षों को देखते हुए सारा जीवन विता देते हैं और कोई निश्चय नहीं ले पाते । सम्भवत: यह भी भीतरी विकास-क्रम में किसी प्रकार का एक अदृश्य कदम रखना होगा । हम सचमुच नहीं जानते । कुछ ऐसे लोग हैं, जो घर से बेघर की स्थिति में नहीं जा सकते, क्योंकि वे अन्दरूनी तौर पर एक प्रकार का सात्त्विक संरक्षण चाहते हैं, जो संसार से थोड़ा वहुत मिल सकता है--एक घर, कुछ पैसे, आसपास कुछ मित्र । यह ठीक भी है कि जो त्याग की छलाँग भरने का साहस नहीं जुटा पाते, वे लम्बी कूद लेने की कोशिश नहीं करते, इस भय से कि कहीं वे आध्यात्मिक दृष्टि से पंगु ही न हो जायँ । फिर ऐसे भी लोग हैं, जो हृदय से शुद्ध हैं और जिनमें यथार्थ रूप से त्याग की वृत्ति विद्यमान है, पर ये इसलिए संसार से बँधे हुए हैं कि इनके माता-पिता घोर संसारी हैं और वे लोग इनके मार्ग में चतुराई से एक न एक बाधा उत्पन्न करते ही रहते हैं । ऐसे लोग अपने पुत्रों और पुत्रियों को संन्यासी और संन्यासिनी के रूप में देखने के वदले लम्पट के रूप में देखना अधिक पसन्द करेंगे--

कुछ माता-पिता इस हद तक विकृत अधिकार-भावना के शिकार होते हैं। इस प्रकार की आसक्ति वहाँ तो समझी जा सकती है, जहाँ माता-पिता के एक ही पुत्र या पुत्री हो। पर आप ऐसी विस्मयकारी अनबूझ घटना को विशेष-कर हिन्दू समाज में घटता पायँगे, जहाँ माता-पिता के कई वयस्क लड़के-लड़कियाँ और नाती-नातिनें हैं, सब जीवन में भलीभाँति प्रतिष्ठित भी हैं, फिर भी यदि कोई लड़का या लड़की त्याग के रास्ते जाना चाहे, तो भावुक-तापूर्ण आपत्तियों की झड़ी लगा देते हैं। संसारी व्यक्ति की सन्तान-परम्परा को अक्षुण्ण रखने की आकुलता तो उचित और शस्त्रों द्वारा अनुमोदित है, पर जब उसकी अन्य सन्तानों ने उत्साहपूर्वक यह कार्यभार अपने कन्धों पर ले लिया है और केवल एक ही लड़का या लड़की संसार को त्यागने की इच्छा रखती है, तो ऐसा कोई नैतिक कारण नहीं, जिससे उसे अपनी उच्चतर प्रवृत्ति के अनुसरण हेतु उत्साहित न किया जाय।

पर यह विचित्र किन्तु सत्य है कि बहुत से माता-पिता--यहाँ तक कि धार्मिक कहलानेवाले भी--इस बात पर दृढ़ प्रतीत होते हैं कि उनके ही समान उनकी सन्तानें भी जीवन भर संसार के माया-मोह और काम-कांचन में फँसी रहें और अपनी सांसारिक प्रवृत्तियों की गुलाम बनी रहें। वे उन्हें उच्चतर जीवन के रास्ते जाने ही नहीं देते। और इधर वे जीवन में इतने सम्पन्न हैं कि उन्हें किसी भी बात के लिए अपने इस पाँचवें पुत्र या

छठी कन्या पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। माता बार-म्बार बेहोशी का प्रदर्शन करेगी, पिता शास्त्रों का उद्धरण देकर यह प्रमाणित करेंगे कि कैसे जीवन भर माता-पिता की सेवा करना ही सर्वोच्च धर्म है। सामान्य तौर पर, हिन्दू आज इतना इहवादी होता जा रहा है कि प्रतीत होता है वह इस बात पर विश्वास नहीं करता कि एक लड़के या लड़की के संन्यासी या संन्यासिनी बन जाने से कुल पवित्र और धन्य हो जायगा। पर ईसाइयों के साथ, विशेषकर कैथॉलिकों के साथ ऐसी बात नहीं है। धर्मप्राण और कैथॉलिक परिवार अपने एक पुत्र और कन्या को चर्च में समर्पित करने की परम्परा के प्रति आग्रहवान होता है। ऐसा अवसर प्राप्त होने पर वह उसे भगवत्कृपा और समाज में सच्चा सम्मान पाने का लक्षण मानता है। इस सम्बन्ध में हिन्दू उससे सीख प्राप्त कर सकता है।

माता-पिता को यह समझना चाहिए कि यदि उनकी सन्तानों में से एक या दो ने अपना जीवन ईश्वर की खोज में लगा दिया, तो न केवल उनका सांसारिक लाभ किसी प्रकार न्यून नहीं होगा, बल्कि वे कुछ अनिर्वचनीय तौर-तरीकों से भगवत्कृपा के भागीदार भी बनेंगे। जीवन मात्र जैविक नहीं है। अस्तित्व के कुछ उच्चतर आयाम भी हैं। माता-पिता का ऐसा वर्तन शोभनीय है, जो ईश्वर के प्रति अधिक उत्साही और उत्तरदायित्वपूर्ण हो तथा संसार के प्रति कम दासतापूर्ण। यदि हमारे इस ग्रह को

उद्देश्यपूर्ण जीवन का स्थान बनना है, तो उसे हरदम जाज्वल्यमान त्यागियों की सेवाओं की आवश्यकता रहेगी। और प्रत्येक सजग गृहस्थ को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि इस सन्दर्भ में उसका परिवार मानवता की किस प्रकार सेवा कर सकता है।

उन युवा, साहसिक आत्माओं से, जो उच्चतर पुकार सुन चुके हैं तथा जो जानते हैं कि उनका त्याग उनके माता-पिता को आवश्यक सम्बल, सहायता और देखभाल से वंचित नहीं करेगा, हम कहना चाहेंगे—भावुकता को त्याग दो, साहस का अवलम्बन करो, अपनी अन्तरात्मा, साधु पुरुषों और भगवान् से मार्गदर्शन की याचना करो और वही करो, जो प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों अवस्थाओं में गरिमामण्डित हो। यदि तुममें सच्ची आग छिपी हो, तो वह धधक उठेगी। हो सकता है कि तुम्हारे पथ में माता-पिता द्वारा दी जानेवाली बाधाएँ भगवान् की परीक्षा हों, वे यह जाँचना चाहते हों कि तुम अपने इरादे और आदर्श के प्रति सच्चे हो या नहीं। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही निकलता है कि त्याग तुम्हारा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है। संसार को त्यागने की अपनी असमर्थता के लिए तुम संसार को दोषी नहीं बना सकते। आखिरी बस के लिए मत रुके रहो। जो पावन है, उसे तो जीवन के प्रारम्भ में ही करना चाहिए। ईश्वर के पास सहायता और मार्गदर्शन के लिए रोओ।

जो 'अनाश्रमी' हैं, अर्थात् जो न तो विधिवत् विवाह-

पूर्वक गार्हस्थ्य जीवन का उत्तरदायित्व कन्धों पर लेते हैं और न संसार का ही औपचारिक रूप से त्याग कर संन्यास-व्रत में दीक्षित होते हैं, ऐसे लोगों को हिन्दू धर्म विशेष अच्छी दृष्टि से नहीं देखता।

पर हिन्दू धर्म पुरुष और स्त्री दोनों के लिए 'नैष्ठिक ब्रह्मचर्य' का विधान करता है। यह सभी लोग स्वीकार करते हैं कि ऐसे लोगों का जीवन संन्यासी और संन्यासिनी के जीवन की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। जो औपचारिक रूप से त्याग करनेवाले लोग हैं, वे एक प्रकार से सुरक्षित हैं, जब तक कि उनके भीतर का अनियंत्रित आवेग ही उनके लिए खतरा पैदा नहीं कर देता। जैसा कि माँ सारदा कहती हैं, 'साधु का गेरुआ कपड़ा उसकी उसी प्रकार रक्षा करता है, जिस प्रकार कुत्ते के गले की पट्टी खतरे से कुत्ते की रक्षा करती है। जिस कुत्ते के गले में पट्टी पड़ी है, वह किसी न किसी का होने के कारण लोगों द्वारा तंग किये जाने से बच जाता है।'

पर यह स्थिति उन पुरुषों और स्त्रियों की नहीं होती, जो 'नैष्ठिक ब्रह्मचर्य' की दीक्षा लेते हैं। वे उन कुत्तों के समान हैं, जिनके गले में पट्टी नहीं होती। या, कुछ अधिक सम्मानपूर्ण उपमा दें, वे उस मक्खन के समान हैं, जो आग से घिरा हुआ है और जिसे पिघलना मना है।

सचमुच यह बड़े विस्मय और अत्यन्त प्रेरणा की बात है कि ये पुरुष और स्त्रियाँ संसार में कड़ा परिश्रम करते हुए भी उसके सुखों के प्रति अपना अधिकार नहीं

जताते और संघर्ष करते हुए अपने आदर्श से लगे रहते हैं। वे समाज के लिए वन्दनीय हैं और समाज के द्वारा संरक्षणीय भी। पर अन्ततोगत्वा इन साहसिक आत्माओं को यह समझ लेना चाहिए कि अपने सद्वृत्तिसम्पन्न मन और भगवान् को छोड़ दुनिया में उनका कोई साथी नहीं। उन्हें यह तथ्य अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि उन्होंने छुरे की धार पर अकेले ही चलना स्वीकार किया है। प्रभु दयालु और सदा चौकस हैं। यदि वे हृदय के सच्चे और पवित्र हैं, तो सुरक्षित हैं। उनका कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

उनके मार्गदर्शन के लिए कोई विशेष निर्देश देना कठिन है, क्योंकि वे एक विचित्र-सी परिस्थिति में रहते हैं। उन्हें अपने जीवन में संन्यासियों और संन्यासिनियों के नियमों का अपने ढंग से पालन करना पड़ता है तथा उपलब्ध शास्त्रग्रन्थों से भ्रमरों की भाँति आवश्यक आध्यात्मिक सम्बल संचय करना पड़ता है।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस श्रेणी के साधकों के लिए श्री माँ सारदा के कुछ उपदेश बहुत काम के साबित हो सकते हैं। उन्होंने एक समय एक घड़ी की ओर संकेत करते हुए एक तरुणी विधवा से कहा, 'इस घड़ी की टिक-टिक की तरह अनवरत भगवान् का नाम लो!' एक दूसरी शिष्या से वे बोलीं, 'किसी के साथ अधिक परिचय न करना। परिवार के सामाजिक उत्सवों में अधिक भाग न लेना। कहना—अरे मन! अपने आप

में ही रहो, दूसरों के लिए उत्सुक मत होओ। धीरे धीरे ध्यान और प्रार्थना की अवधि बढ़ाती जाओ और श्रीरामकृष्ण के उपदेशों को पढ़ा करो।'

एक दूसरे दिन उन्होंने उसी शिष्या से कुछ बहुत चौंका देनेवाले शब्द कहे--'किसी भी पुरुष के साथ घनिष्ठता कभी न करना--अपने पिता अथवा भाई से भी नहीं, तब भला दूसरों की क्या बात। मैं फिर से दुहरा दूँ, किसी भी पुरुष के साथ घनिष्ठता कभी न करना, अगर साक्षात् भगवान् भी वैसा रूप लेकर तुम्हारे पास आएँ तो भी नहीं!'

जीवन मूल्यवान है और संसार फन्दों से भरा है। माँ सारदा ने जो बात स्त्री से कही, वही उतने ही बलपूर्वक सब पुरुषों के लिए भी लागू होती है--उन्हें स्त्रियों से सावधान रहना चाहिए, विशेषकर उन लोगों को, जिन्हें न तो संन्यास का संरक्षण प्राप्त है, न गार्हस्थ्य जीवन का। एक दूसरे शिष्य से श्री माँ ने कहा, 'सदैव सबके प्रति अपना कर्तव्य करो, पर अपने हृदय का प्रेम तो एकमात्र भगवान् को ही दो। सांसारिक प्रेम हरदम अकथनीय दुःख ले आता है।'

श्रीरामकृष्ण ऐसे गृहस्थ की बड़ी प्रशंसा करते थे, जो भगवान् का भक्त भी है। जैसा कि हम प्रारम्भ में पढ़ चुके हैं, वे कहते थे, 'वह सचमुच वीर पुरुष है। वह ऐसे व्यक्ति के समान है, जो दो मन का बोझा अपने सिर पर लादकर चल रहा है और विवाह के जुलूस का भी

आनन्द ले रहा है।'

और श्रीरामकृष्ण ईश्वर के अपने अन्तरंग ज्ञान के बल पर हमें आश्वासन भी देते हैं कि गृहस्थ यदि थोड़ा सा भी साधन-भजन करे, तो प्रभु प्रसन्न होते हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण एक मनोरंजक चुटकुला सुनाते हैं—

एक समय देवर्षि नारद के मन में आत्मप्रवंचना हुई कि उनसे बढ़कर भक्त और कोई नहीं है। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, उन्होंने नारद के मन की बात भाँप ली और उनसे कहा, 'नारद! अमुक जगह जाओ, वहाँ पर मेरा एक बड़ा भक्त रहता है और उससे परिचय करो।' नारद वहाँ गये और देखा कि वह तो एक किसान है, जो सुबह उठते ही बस एक बार हरि का नाम लेता है और हल लेकर खेत चला जाता है और सारा दिन जोतता रहता है। रात में सोने के पहले बस एक बार और हरि का नाम ले लेता है। नारद ने अपने मन में कहा, 'यह गँवार भला प्रभु का भक्त कैसे हो सकता है? मैं तो उसे संसार के कर्मों में अत्यन्त व्यस्त देखता हूँ और उसमें धर्मभाव के कोई लक्षण नहीं दिखते।' नारद भगवान् विष्णु के पास वापस आये और जो कुछ उस नये परिचित किसान के सम्बन्ध में उनकी धारणा बनी थी, वह कह सुनायी। तब भगवान् ने उनसे कहा, 'नारद! तुम तेल से भरा यह कटोरा लो, शहर के चारों ओर घूमो और इसे लेकर यहीं वापस आओ, पर हाँ, सावधानी रखना

कि कहीं इसकी एक बूँद भी धरती पर न छलक जाय।' नारद ने वैसा ही किया। जब वे वापस लौटे, तो भगवान् ने पूछा, 'अच्छा नारद ! यह तो बताओ, तुमने घूमते समय मेरा कितनी बार स्मरण किया ?' 'एक भी बार नहीं, प्रभो !' नारद ने उत्तर दिया, 'मैं भला कर भी कैसे सकता था, जब मेरी सारी शक्ति इस तेल से लबालब भरे कटोरे पर ही केन्द्रित थी ?' 'इस तेल के एक कटोरे ने तुम्हारा ध्यान इतना खींच लिया कि तुम मुझे भी एकदम भूल गये, पर जरा उस किसान की ओर तो देखो, जो अपने परिवार का वजनी बोझा अपने सिर पर ढोकर चलता है,फिर भी मेरा स्मरण दिन में दो बार करता है!'

अतएव, यदि आप ईश्वर का स्मरण प्रातः उठते ही करते हैं और रात्रि में सोने के समय फिर से करते हैं, तो आशान्वित होइए, आनन्दित होइए, क्योंकि प्रभु प्रसन्न होते हैं !

हाँ, प्रभु उतने से भी अवश्यमेव प्रसन्न होते हैं; पर क्या आप, यदि सच्चे भक्त हैं, तो अपने हृदयदेवता का दिन में केवल दो बार स्मरण करने मात्र से सन्तुष्ट हो सकते हैं ?

('प्रबुद्ध भारत' से साभार) (समाप्त)

रामकथा की शाश्वतता

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(नागपुर में प्रदत्त प्रवचन)

श्रीराम का चरित्र अत्यन्त पुरातन है। पौराणिक मान्यता के अनुसार उनका प्राकटच त्रेतायुग में हुआ। उन्हें केन्द्र बनाकर अनगिनत महाकाव्य लिखे गये; पुराणों में उनका वर्णन किया गया; नाटक और चम्पू में उनकी चर्चा की गयी है। 'रामचरितमानस' भी एक प्रकार से पुराना ही माना जायगा, क्योंकि कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व उसकी रचना की गई थी। यह तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि नवीन के प्रति उसका आकर्षण अधिक होता है और प्राचीन में उसे नीरसता का बोध होता है। कभी कभी ऐसा भी लगता है कि जो हमारी आधुनिक समस्याएँ हैं, उनका समाधान किसी प्राचीन चरित्र या ग्रंथ से कैसे प्राप्त हो सकता है? पर गोस्वामीजी ने एक बड़ी मीठी सी युक्ति का प्रयोग किया है। उसे मैं आपके सामने दुहरा दूँ। वे अपने 'रामचरित-मानस' की तुलना गंगाजी से करते हैं। 'मानस' में एक पंक्ति आती है--

पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जगपावनि गंगा॥ --१/१११/७

यदि कोई व्यक्ति गंगा की विलक्षणता की ओर ध्यान दे, तो उसमें प्राचीनता और नवीनता का सही समाधान मिल सकता है। गंगा प्राचीन है अथवा नवीन? एक सरोवर को ले लें। सरोवर का जल कुछ समय बाद

पुराना पड़ जाता है, उसमें सड़न आ जाती है, उसे पीने या उसमें स्नान करने का मन नहीं करता। पर यदि आप गंगा की ओर दृष्टि डालें, तो उसकी विलक्षणता का बोध होता है। गंगा को देखते ही एक अनादिकालीन परम्परा का स्मरण हो आता है। पुराणों में उसकी गाथाओं का वर्णन किया गया है। उससे बढ़कर पुराना और क्या होगा? पर क्या गंगा मात्र पुरानी ही है? उसकी विशेषता तो यह है कि वह चिर पुरातन होते हुए भी प्रतिक्षण नवीन होती जाती है। गंगा की जो धारा प्रवाहित हो रही है, उसमें स्नान करते हुए हमें ऐसा लगता है कि हम उसी धारा में स्नान कर रहे हैं, जिसमें हमारे पुरखों ने स्नान किया है; और इस प्रकार हमारा सम्बन्ध पुरातन पीढ़ी से जुड़ जाता है। तथापि सत्य यह है कि गंगा का जल प्रतिक्षण बदल रहा है। गोस्वामीजी ने अपनी रामकथा की मान्यता गंगा की उपमा लेकर आधारित की है। उन्होंने अपने इस काव्य के मूल स्रोत के रूप में गंगा का स्मरण किया है और इसीलिए 'रामचरितमानस' में प्राचीनता और नूतनता का विलक्षण समन्वय प्राप्त होता है।

गोस्वामीजी ने कविता की परिभाषा करते हुए दो और बातों को उसके साथ जोड़ दिया। वे कहते हैं–

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥–१/१४/९

––'वही कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य श्रेष्ठ है, जो

गंगा के समान सबका हित करे।' इस तरह उन्होंने काव्य के साथ कीर्ति और ऐश्वर्य को जोड़कर एक समन्वय-सूत्र यहाँ भी प्रस्तुत किया है। कीर्ति और काव्य के साथ सम्पत्ति की भी चर्चा करने का उनका अभिप्राय यह था कि सामाजिक जीवन में जिन भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनको उन्होंने भुलाया नहीं। गोस्वामीजी तीन एषणाओं की बात लिखते हैं——

सुत वित लोक ईषना तीनी। ७/७०/६

——एक पुत्र की, दूसरी वित्त की और तीसरी यश की। मनुष्य को अपने आर्थिक दारिद्र्य के निवारण के लिए, अपने भौतिक जीवन की समस्याओं का समाधान प्राप्त करने के लिए वित्त की आवश्यकता हुआ करती है। पर केवल वित्त के द्वारा उसकी सभी समस्याओं का समाधान नहीं होता। जब व्यक्ति केवल आत्म-केन्द्रित नहीं रहना चाहता, तब उसके अन्तःकरण में यश की इच्छा जागृत होती है। ऐसी दशा में स्वभावतः उसे लोक-कल्याण के कर्म करने पड़ते हैं। इस तरह यह तो कीर्ति की इच्छा है, जो मनुष्य को त्याग सिखाती है। गोस्वामीजी ने इस वित्त और यश के साथ काव्य को जोड़ दिया।

इस प्रकार 'रामचरितमानस' में एक विलक्षण सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन किया गया है। उसका जो मूल आधार है, वही गोस्वामीजी के काव्य का आदर्श है और वह उसी कथा में निहित है। 'रामचरितमानस' को मैं रामकथा कहता तो हूँ, पर रामकथा का वर्णन उसमें बाद

में किया गया है। रामकथा से पहले हम वहाँ भगवान् शंकर की कथा पढ़ते हैं। पहले भगवान् शंकर और पार्वती के विवाह की गाथा विस्तार से गायी जाती है, तत्पश्चात् भगवान् श्रीराम और श्रीसीताजी की गाथा का वर्णन किया जाता है। यहाँ एक विलक्षण बात आपको मिलेगी। भरद्वाज याज्ञवल्क्य से रामकथा के विषय में प्रश्न करते हैं और याज्ञवल्क्य उत्तर में उन्हें शंकरजी की कथा सुनाते हैं। साधारण दृष्टि से यह बड़ी अटपटी वात मालूम पड़ती है। प्रश्न पूछा जाय एक और उत्तर दिया जाय कुछ दूसरा! पर इसका एक रहस्य है। शंकरजी की कथा सुनाने के वाद भरद्वाज से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'मैं तुम्हें शंकर की कथा सुनाकर यह देखना चाहता था कि तुम रामकथा के अधिकारी हो या नहीं (१/१०४)--

प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार॥

तो, जो शिव की कथा नहीं सुन सकता, उसे नहीं समझ सकता, वह रामकथा का अधिकारी नहीं है। साधारणतया लोग इस बात को केवल भौतिक सन्दर्भ में लेते हैं, पर यदि आप उसके अन्तरंग में स्थित सत्य पर विचार करें, तो देखेंगे कि 'रामचरितमानस' में जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है, उसका जो मूल सूत्र है, वह भगवान् शंकर और पार्वती के चरित्र में प्राप्त होता है। यह युगल-चरित्र दो जगतों का संकेत देता है—एक, अन्तः और दूसरा, वाह्य। बाह्य जगत् का अनुभव हम सब कर

ही रहे हैं। इसके पीछे एक और जगत् है, जिसे अन्तर्जगत् कहा जाता है। पर व्यक्ति बहुधा इसकी उपेक्षा करता है। किन्तु उपेक्षा करने से व्यक्ति पूरी तरह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। हमें शिक्षा दी जाती है कि अन्तर्जगत् की उपलब्धि के लिए बाह्य जगत् का त्याग करना होगा। पर जो भौतिकवादी हैं, वे कहते हैं कि आध्यात्मिकता व्यक्ति को पलायनवादी बनाती है, वास्तव में उसे अन्तर्मुखता की ओर या एक कल्पित जगत् में जाने की कोई आवश्यकता नहीं; हमारे समाज में बाहर इतनी समस्याएँ हैं कि उनका समाधान बाहर ही ढूँढ़ा जाना चाहिए। अब यह जो भगवान् शंकर और पार्वतीजी का चरित्र है, उसके द्वारा गोस्वामीजी एक अद्‌भुत सूत्र प्रस्तुत करते हैं। हमने कहा कि वे काव्य के साथ कीर्ति और धर्म को भी जोड़ देते हैं। वे सिर्फ इतना ही कह सकते थे कि कविता वह श्रेष्ठ है, जो गंगा के समान सबके लिए है, पर जब उन्होंने कविता के साथ कीर्ति और धर्म को भी जोड़ दिया, तो उसका अभिप्राय यह है कि वे बाह्य और अन्तर्जगत् के समन्वय की ओर संकेत करना चाहते थे। भगवान् शंकर और पार्वती की कथा में एक और मूल सूत्र प्राप्त होता है। भगवान् शंकर सती का परित्याग कर देते हैं और समाधि में डूब जाते हैं। यह अद्‌भुत है कि शिव का विवाह दो बार होता है—पहली बार सती से और दूसरी बार जब ये ही सती पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं तब उनसे। भगवान् शंकर द्वारा सतीजी के त्याग में

जिस धर्म और त्याग का सूक्ष्म संकेत है, उसका प्रारम्भ गोस्वामीजी अपनी विशिष्ट पद्धति से करते हैं । वे कहते हैं कि एक बार त्रेतायुग में भगवान् शंकर रामकथा सुनने के लिए कैलास पर्वत से उतरकर दण्डकारण्य की ओर गये । कैलास पर्वत हिमालय की ऊँचाई की पराकाष्ठा है और दण्डकारण्य नीचे स्थित है । संकेत यह है कि शिव जी कैलास पर्वत की ऊँचाइयों का परित्याग कर दण्डकारण्य में जाना स्वीकार करते हैं । यह अवतरण की प्रक्रिया है । इसका अभिप्राय यह है कि सारे के सारे व्यक्ति ऊपर नहीं उठ सकते । कहा जाता है कि व्यक्ति को ऊपर उठना चाहिए । पर क्या ऊपर उठना सबके लिए सम्भव हो पायेगा ? इसीलिए रामचरितमानस में जिस भावनामयी उपासना का संकेत प्राप्त होता है, वह कहती है कि यदि हम ऊपर न उठ सकते हों तो जिस शक्ति को हम पाना चाहते हैं या जिस ईश्वर से हम एकत्व-लाभ करना चाहते हैं, वह तो नीचे की ओर उतर सकता है । यही अवतारवाद की भावना है, जो कहती है कि ईश्वर लोक-कल्याण के लिए ऊपर से नीचे उतर आता है । श्रीराम का अवतार भी इसी प्रक्रिया का संकेत है । इसी प्रकार, भगवान् शंकर का कैलास पर्वत से उतरकर कथा-श्रवण के लिए दण्डकारण्य की ओर आना भी इसी अवतार-प्रक्रिया को इंगित करता है । भगवान् शिव स्वयं रामकथा के आचार्य हैं, अत्यन्त ऊँचाई पर रहते हैं, उनको नीचे उतरने की वैसे कोई आवश्यकता नहीं, पर

तो भी उन्हें ऐसा लगता है कि जब श्रीराम दण्डकारण्य में निवास कर रहे हैं, तो रामकथा को सुनने के लिए मुझे भी वहाँ जाना चाहिए।

तो, शंकरजी दण्डकारण्य में आते हैं, पर वे श्रीराम से मिलने के लिए नहीं जाते। क्यों ? उनके मन में विचार आया कि श्रीराम एक नाटक कर रहे हैं, एक लीला कर रहे हैं। और जब हम अपने किसी मित्र का अभिनय देखना चाहते हैं, तब हमारा कर्तव्य होता है कि हम दर्शकों के बीच बैठ केवल नाटक देखें, मंच पर उससे मिलने के लिए न पहुँच जायँ, जाकर ऐसा कहकर गले न मिलें कि वाह, आपसे बहुत दिनों बाद भेंट हुई। यदि हम मंच पर जाकर मित्र से मिलने का प्रयास करेंगे, तब तो उस बेचारे का सारा अभिनय-रस ही समाप्त हो जायगा। इसलिए शंकरजी को लगता है—

गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गये जान सब कोइ।—१/४८ (क)

——श्रीराम ने अभिनय के लिए गुप्त अवतार लिया है, अगर मैं जाऊँगा, तो उनका नाटक बिगड़ जायेगा। इसीलिए वे भगवान् राम के पास नहीं जाते, पर रामकथा सुनते हैं। यह अनोखा संकेत है कि रामचरित्र को देखकर बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता है और रामकथा के द्वारा उस भ्रम का निवारण होता है।

तो, शिवजी कथा श्रवण के लिए जाते हैं, साथ में सतीजी भी हैं। सती दक्ष प्रजापति की पुत्री हैं। दक्ष का अर्थ आप जानते ही हैं——वह है चतुर। तो दक्ष चतुर हैं,

ब्रह्मा के पुत्र हैं और ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं——

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।

——६/१५ (क)

उन दक्ष की अनेक कन्याएँ थीं और उनमें एक थीं सती । दक्ष सोचने लगे कि सती का विवाह किससे करें । इस जिज्ञासा से प्रेरित हो वे अपने पिता ब्रह्मा के पास गये । ब्रह्मा ने कहा कि तुम अपनी पुत्री शंकर को अर्पित कर दो । यह वड़ा सार्थक संकेत है । गोस्वामीजी कहते हैं कि जब बुद्धि के देवता ब्रह्मा ने अपने चतुर पुत्र दक्ष को आदेश दिया कि तुम अपनी पुत्री का अर्पण शिव को कर दो, तो वे जीवन का एक महान् सत्य प्रस्तावित करना चाहते थे । 'रामचरितमानस' (वालकाण्ड, वन्दना) में शंकर का स्वरूप क्या है, यह आपने पढ़ा ही होगा——

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।

भगवान् शंकर मूर्तिमान विश्वास हैं । तो, बुद्धि के देवता चाहते थे कि चतुर दक्ष अपनी कन्या जिज्ञासा का विवाह विश्वास से कर दें । जव जिज्ञासा और विश्वास का मिलन होता है, तो एक नये सत्य का प्रतिपादन होता है । वस्तुत: विश्वास और जिज्ञासा का मिलन ही अभीष्ट है । कहा गया कि सती बुद्धिमान दक्ष की कन्या हैं । संकेत यह है कि जो व्यक्ति बुद्धिमान होता है, उसमें जिज्ञासा का जन्म होता है, जानने की इच्छा का उदय होता है । वैसे जानने की इच्छा है वहुत अच्छी, पर प्रश्न यह है कि जिज्ञासा को किसके पास जाना चाहिए,

जिज्ञासा का वास्तविक स्वामी कौन है ? ब्रह्माजी की धारणा है कि शंकर से बढ़कर जिज्ञासा का कोई अधिकारी नहीं । यह ठीक ही तो है । जिज्ञासा का समाधान विश्वास के द्वारा ही हो सकता है, किसी बुद्धिमान के द्वारा नहीं । विश्वास का अभिप्राय क्या है ? जो बुद्धि की सीमा को पार कर सत्य में स्थित हो चुका हो, जो सत्य को पूरी तरह समझ चुका हो और जीवन में उतार चुका हो, वह है विश्वास । तो ब्रह्माजी की धारणा थी कि जिज्ञासा और विश्वास का विवाह बड़ा कल्याणकारी होगा, इसलिए उन्होंने दक्ष प्रजापति को वैसी प्रेरणा प्रदान की । पर जब दक्ष ने शंकर को देखा, तो उन्हें कोई बहुत प्रसन्नता नहीं हुई, ऐसा नहीं लगा कि यह व्यक्ति कन्या पाने का अधिकारी हो सकता है । तथापि उन्होंने पिता की आज्ञा समझ शंकर को सती अर्पित कर दी ।

अब, इन सती की जो समस्या है, वह हममें से बहुतों की समस्या है । आज के युग में हम एक द्वन्द्व से संत्रस्त हैं और इसे सती का द्वन्द्व कहा जा सकता है । सती का द्वन्द्व यह है कि वे पुत्री तो दक्ष की हैं और पत्नी शंकर की । चतुर की कन्या, और विश्वास की पत्नी । तो प्रश्न उठता है कि विश्वास को महत्त्व दें या चतुराई को ? जीवन में किसे स्वीकार करें ? आध्यात्मिकता का मूल आधार है विश्वास और भौतिक ज्ञान मुख्यतया बुद्धिमत्ता पर आधारित है । इन दोनों में अधिक महत्त्व किसे दिया जाय ? सती की समस्या यह थी कि ये

विरोधी वृत्तियाँ उनमें अलग अलग समय जागृत हुआ करती थीं। कभी तो पिता के संस्कार चैतन्य हो जाते थे, जो उनमें बहुत गहराई में छिपे हुए थे, तो कभी भगवान् शंकर के साहचर्य से प्राप्त प्रभाव उनके अन्तःकरण को अपने वस में कर लेता था। इस प्रकार उनका अन्तः-करण विश्वास और बुद्धिमत्ता के एक अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा रहता था। तो, जब भगवान् शंकर ने सतीजी से कहा कि मैं कथा सुनने दण्डकारण्य जा रहा हूँ, तब सतीजी बोलीं कि इस पवित्र कार्य में तो मैं भी भाग लूँगी। यहाँ पर उनमें शिव की पत्नी का संस्कार अर्थात् विश्वास का संस्कार जागृत होता है। इसका अर्थ यह है कि हम दूसरे की बात सुनने के लिए तभी प्रस्तुत होते हैं, जब हम जीवन में विश्वास को स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर, बुद्धि का स्वभाव है दूसरे का खण्डन करना। बुद्धि अद्वैतवादी है, वह किसी दूसरे को सह नहीं सकती। उसका मुख्य शस्त्र है कैंची, और कैंची का स्वभाव ही काटना हुआ करता है। तो, जब हम दूसरे की बात सुनने को प्रस्तुत होते हैं, तब उसका अर्थ यह होता है कि हम कहीं न कहीं स्वीकार करते हैं कि हमारा ज्ञान असीम नहीं है, दूसरों से भी कुछ सीखा जा सकता है, सुना जा सकता है, समझा जा सकता है और यही विश्वास का उद्‌गम है। इसलिए जब सती भगवान् शंकर के साथ चलने की इच्छा व्यक्त करती हैं, तब तुलसीदासजी अपनी साहित्यिक कृति में उनका स्मरण शिव की पत्नी के रूप में करते हैं। वे

कहते हैं--

एक बार त्रेता जुग माहीं।
सम्भु गये कुम्भज रिषि पाहीं॥
संग सती जग जननि भवानी।--१।४८।१-२

इस प्रकार शंकर और सती कथा सुनने के लिए गये। कहाँ गये? दण्डकारण्य में जो उस समय बड़ा अपवित्र और शापित वन माना जाता था। कथा सुनने किसके पास गये? कुम्भज के पास। कुम्भज का अर्थ है वह, जिसका जन्म घड़े से हुआ हो। तो, रामकथा है समुद्र के समान और कथा सुनानेवाला है घड़े का बेटा--वह जो घड़े से जन्मा हो। बात वैसे तो बड़ी अटपटी सी लगती है कि कहीं समुद्र घड़े में समा सकता है? यों भले ही अगस्त्यजी समुद्र को पी गये हों, पर समुद्र घड़े में नहीं समा सकता। तब इसका अर्थ क्या है? यही कि समुद्र चाहे जितना असीम हो, जलराशि चाहे जितनी असीम हो, पर जब हम उसका उपयोग करना चाहेंगे, तो उस असीम को ससीम ही बनना पड़ेगा। उसके बिना तृप्ति नहीं होगी। इसीलिए अनन्त ईश्वर तृप्ति देने हेतु अवतार लेकर छोटा हो जाता है। आप एक विशाल वृक्ष लगाते हैं, तो क्या विशाल वृक्ष से आपको तृप्ति मिल जाती है? नहीं, विशाल वृक्ष का एक नन्हा सा फल ही व्यक्ति को तृप्ति प्रदान किया करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब भी व्यक्ति तृप्ति चाहता है, वह असीम को अपनी सीमा में ले आता है। आप एक सरो-

वर के पास जाते हैं और जल पीना चाहते हैं, तो आप जल को पहले एक चुल्लू में लेते हैं, अथवा एक पात्र में लेते हैं। अर्थ यह कि आप असीम को अपनी सीमा में लाने की चेष्टा करते हैं। कुम्भज के पास जाने में शिवजी का तात्पर्य यह भी था कि यदि कुम्भज जैसे व्यक्ति के पास भी ज्ञान है, भगवान की कथा है, तो वहाँ सुनने के लिए जाने में संकोच नहीं होना चाहिए। अस्तु।

जब भगवान् शंकर और सती ने कुम्भज—अगस्त्य के आश्रम में प्रवेश किया, तो ऋषि अपने आप को कृतकृत्य अनुभव करने लगे। उन्होंने दोनों का स्वागत किया; यही नहीं, बल्कि गोस्वामीजी लिखते हैं—

पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।——१।४८।२

ऋषि ने सोचा कि आश्रम में आज भगवान् शिव भगवती के साथ पधारे हैं, यह मेरा परम सौभाग्य है और मुझे इनकी पूजा करनी चाहिए। ऐसा सोच उन्होंने दोनों का पूजन किया। लेकिन पूजन का प्रभाव दोनों पर अलग अलग पड़ा। जब अगस्त्य शंकरजी की पूजा करने लगे तो भगवान् शंकर संकोच से गड़ गये; सोचने लगे कि यह तो ऐसी उलटी बात हो रही है, जिसकी मैंने कल्पना नहीं की थी। श्रोता का कर्तव्य होता है कि वह वक्ता की पूजा करे, इस नाते मेरा कर्तव्य था कि मैं अगस्त्य की पूजा करता, लेकिन अगस्त्य तो इतने महान् सन्त हैं, इतने निरहंकारी हैं कि उन्होंने उलटे मेरी पूजा कर दी। उनके समान उदार चरित्रवाला सन्त भला

कौन होगा ? किन्तु सती ने उस पूजन का दूसरा अर्थ लगा लिया। जितने बुद्धिमान लोग होते हैं, वे बहुधा सतीजी का ही अर्थ लगाते हैं। जब अगस्त्य सती का पूजन करने लगे, तो सती के मन में तुरन्त यह बात उठी कि यदि ये मुझसे कम बुद्धिमान न होते, तो मेरी पूजा कैसे करते ? इसलिए जब ये मुझसे कम बुद्धिमान हैं, तो मुझे इनकी बात सुनने की कोई आवश्यकता नहीं ! यहाँ संकेत क्या है ? यही कि कथा ही महत्त्वपूर्ण नहीं होती, बल्कि उसका अर्थ महत्त्वपूर्ण होता है। महत्त्व घटना का नहीं बल्कि उसके अर्थ का होता है। अधिक महत्त्वपूर्ण यह है हम उस कथा या घटना का क्या अर्थ लेते हैं। 'रामचरितमानस' में एक वाक्य आया है--

अरथु अमित अति आखर थोरे।--२।२९३।२

--शब्द थोड़े हैं और अर्थ अमित है। कई बार यह प्रश्न आता है कि अर्थ अमित कैसे हो सकता है ? अगर एक शब्द होगा या एक वाक्य होगा, तो शब्दकोश में उसका कुछ अर्थ होगा, इस प्रकार अर्थ की तो सीमा होगी। पर ध्यान से देखिए, शब्द के अर्थ की भले सीमा हो, पर अर्थ के पीछे जो निहित भाव है, उसकी कोई सीमा नहीं। यहाँ घटना तो सामान्य सी थी, वह यह कि मुनि अगस्त्य ने दोनों का चन्दन और माल्यार्पण के द्वारा स्वागत किया। पर उस स्वागतरूपी क्रिया का जो अर्थ था, वह उन दोनों के अन्तःकरण में अलग अलग प्रकार से आया। 'रामचरितमानस' में इस प्रक्रिया को बड़ा महत्त्व

दिया गया है। वहाँ लिखा है कि जब वसिष्ठजी कथा कहते, तो भगवान् श्रीराम अपने भाइयों के साथ सुनते और जब गुरुदेव कथा सुनाकर चले जाते, तो भगवान् राम भाइयों के साथ बैठकर उस कथा पर पुनः विचार करते। गोस्वामीजी संकेत देते हैं--

आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।--१।२०५।६

इसका अर्थ क्या हुआ ? गुरु वसिष्ठ के समझाने के बाद भी क्या कुछ समझना शेष है, जो भगवान् राम बाद में उसी कथा को कहते और भाइयों को समझाते हैं ? यही वह संकेत है, जो रामायण की कथा का रहस्य है, और रामचरित्र की अनूपता का रहस्य भी यही है। तो रामचरित्र की नूतनता का अर्थ यह है कि राम का जो चरित्र है, वह एक घटना के रूप में तो आपके सामने आता है, पर यदि आप उसका सही अर्थ पकड़ना चाहेंगे, तो देश-काल के सन्दर्भ में उस घटना का आपको विचार करना होगा; फिर आप जो भी अर्थ लेना चाहेंगे, वह निश्चित रूप से बिना किसी प्रकार की खींचतान किये आपको उपलब्ध हो जायेगा। यही सूत्र 'रामचरित-मानस' में यह कहकर दिया गया है--

अरथु अमित अति आखर थोरे।--२।२९३।२

इसीलिए गुरु वसिष्ठ के कहने के बाद भी कथा की व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। गुरु वसिष्ठ के कहने के बाद श्रीराम कहते हैं, श्री भरत कहते हैं, लक्ष्मण कहते हैं, शत्रुघ्न कहते हैं। प्रत्येक उस कथा को अपनी

दृष्टि से देखता है। घटनाएँ तो घटती रहती हैं, महत्त्व इसका है कि हम उन घटनाओं को किस दृष्टि से देखते हैं। मैं कहा करता हूँ कि जब गुरु वसिष्ठ कथा सुनाते होंगे, तो राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथजी और रानियाँ तो सुनती ही थीं, पर यह मन्थरा कथा सुनती थी या नहीं ? आप निश्चित मानिए कि मन्थरा भी अवश्य सुना करती थी। 'मानस' में इसका प्रमाण है कि वह कथा में नियमित रूप से जाया करती थी तथा उसको इतनी कथाएँ याद थीं कि जब उसने कैकेयी को कथा सुनाना प्रारम्भ किया तो वे चौंक पड़ीं। उन्होंने कहा कि मैं तो जानती ही नहीं थी कि तुम इतनी विद्वान् हो, मैंने तो तुम्हें सदा एक साधारण दासी के रूप में देखा। गोस्वामीजी कहते हैं कि मन्थरा कैकेयी को पुराण में आयी सतयुग की कद्रु और विनता की कथा सुनाने लगी। गुरु वसिष्ठ ने एक दिन सभी को कद्रु और विनता की कथा सुनायी थी। आप सब भी वह कथा जानते होंगे। कहा जाता है कि कद्रु और विनता दो सौतें थीं। एक दिन दोनों में होड़ लग गयी कि सूर्य के घोड़ों की पूँछ का रंग क्या है—सफेद अथवा काला ? विनता ने कहा सफेद और कद्रु ने कहा काला। यह तय हुआ कि पास चलकर देखा जाय। पर इसके पहले कद्रु ने एक शर्त रखी कि हारनेवाली को जीतनेवाली की जीवन भर सेवा करनी पड़ेगी। विनता ने सहज भाव से यह शर्त स्वीकार कर ली, क्योंकि उसे विश्वास था कि सत्य उसके

पक्ष में ही ठहरेगा। जब दोनों सूर्य के निकट जाने लगीं, तो कद्रु ने अपने पुत्र सर्पों को आदेश दिया कि तुम लोग पूँछ से लिपटकर उसका रंग काले जैसा प्रतीत करा दो, जिससे मैं जीत जाऊँ और विनता मेरी सेवा में लगी रहे। सर्पों नें अपनी माता की आज्ञा का पालन किया। जब कद्रु और विनता ने कुछ समीप जाकर सूर्य के घोड़ों को देखा, तो उनकी पूँछ का रंग काला दिखायी पड़ा। बेचारी विनता हार गयी और कद्रु की सेवा में रहने लगी। पर यह रहस्य अधिक दिनों तक छिपा न रहा। जब विनता से गरुड़ का जन्म हुआ, तो उसने प्रतिशोध-स्वरूप सर्पों को दण्ड दिया। यह कथा सुनाकर गुरु वसिष्ठ चले गये और उसके बाद भगवान् राम चारों भाइयों के साथ बैठकर कथा के तात्पर्य पर विचारों का आदान-प्रदान करने लगे। तीनों भाइयों ने श्रीराम से पूछा-आपकी दृष्टि में कथा का अर्थ क्या है? भगवान् राम ने कहा, विनता की एक ही भूल हुई कि उसने केवल दृष्टि को प्रमाण मान लिया। कद्रु कुमति की प्रतीक है, जो उज्ज्वलता को कृष्णता के रूप में दिखाना चाहती है, श्वेत सत्य को कालिमा के रंग में रँगना चाहती है, और विनता का भोलापन यह है कि उसने शास्त्र को प्रमाण न बना केवल नेत्र को प्रमाण माना और इस प्रकार भ्रान्ति के कारण वह छली गयी। सर्प संशय का प्रतीक है——

संसय सर्प ग्रसन उरगादः। ——३।१०।९

जब यह संशय मनुष्य के जीवन में आता है, तब उसे भ्रान्ति हो जाती है, जैसी सूर्य के घोड़ों को देख विनता को हो गयी। अतः व्यक्ति जब भ्रान्ति में पड़े तो दृष्टि को कभी भी प्रमाण न माने, यही इस कथा का वास्तविक अर्थ है। इस प्रकार राम ने उसका ज्ञानमय अर्थ लगाया। जब भगवान् राम ने भरत की ओर देखा और पूछा कि भरत, बताओ तुम्हारी दृष्टि में आज की कथा का अर्थ क्या है, तो श्री भरत ने इसका दूसरा अर्थ लगाया। उन्होंने कहा--महाराज, मुझे तो लगता है कि कद्रु के मन में तो कपट था ही, पर यह झगड़ा आगे न बढ़ता यदि उसके पुत्रों ने अपनी माँ की अनुचित आज्ञा का पालन न किया होता। देखिए, कद्रु के पाप का दण्ड उसके पुत्रों को भोगना पड़ा और पुत्रों की भूल यही थी कि कद्रु ने जब उन्हें घोड़े की पूँछ से लिपटकर उसके श्वेत रंग को कृष्ण बनाने का आदेश दिया, तो उन्होंने बिना विचारे माँ की आज्ञा का पालन किया। अतः मेरी समझ में इस कथा का अर्थ यह है कि बड़ों की आज्ञा को भी विचारपूर्वक ही मानना चाहिए, वह आज्ञा धर्म के अनुकूल हो तभी उसे मानना चाहिए, अन्यथा नहीं। प्रभु मुस्कुरा उठे, समझ गये कि भरत अपनी ही दृष्टि से अपने चरित्र का दर्शन तैयार कर रहे हैं। भगवान् राम ने फिर शत्रुघ्न से पूछा--शत्रुघ्न तुम्हारी समझ से आज की कथा का क्या अर्थ है ? उन्होंने कहा--महाराज, मैं तो यह मानता हूँ कि विनता ने यदि व्यर्थ का विवाद न किया होता, बहस न की

होती, होड़ न लगायी होती, तो उसे ऐसा कष्ट न उठाना पड़ता। व्यक्ति को तो मौन रहकर ही विचार में संलग्न रहना चाहिए, व्यर्थ बोलना नहीं चाहिए। यह शत्रुघ्न की अपनी दृष्टि थी और उन्होंने अपने जीवन में यही किया। जब भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से पूछा---लक्ष्मण, तुमने कथा का क्या अर्थ लिया, तो लक्ष्मण ने कहा---महाराज, यह ठीक है कि विनता और कद्रु का संघर्ष बुरा था और कद्रु के अपराध से अन्य सर्पों को दण्ड मिला, पर एक सर्प ऐसा भी है, जिसे दण्ड देने की सामर्थ्य गरुड़ में नहीं थी और वह है शेष। लक्ष्मणजी का संकेत अपनी ओर था, उस शेष की ओर, जो कभी गरुड़ के भय से डरा नहीं और उसका एकमात्र कारण यह था कि वह भगवान् से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं हुआ। लक्ष्मणजी का यह संकेत है कि प्रभो, आपके सान्निध्य को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अलग होना सबसे बड़ा अपराध है। शत्रुघ्न कहते हैं कि मौन रहकर सेवा करनी चाहिए, वाणी का व्यर्थ विनिमय ही दुःख का कारण है। भरत का कहना है कि धर्म का उचित निर्णय यह है कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन भी विचारपूर्वक करना चाहिए और भगवान् राम कहते हैं कि कभी कभी ज्ञान संशय के कारण श्वेत के बदले कृष्ण प्रतीत होने लगता है। ये चारों अर्थ अपने अपने स्थान पर सही हैं, पर एक और अर्थ मन्थरा भी तो करती है। वह कैकेयीजी को समझाते हुए कहती है---देखो, कद्रु ने विनता को कितना कष्ट

दिया, जो सौत है वह सौत ही रहेगी और हमेशा कष्ट देगी, अत: सावधान, सौत को नष्ट करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए, एक क्षण के लिए भी सौत से असावधान नहीं होना चाहिए (२।१९)—

कद्रूँ विनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब ।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ॥

इस प्रकार, एक ही घटना के कई अर्थ हो जाया करते हैं। हम जो अर्थ लेते हैं, वही हमारे जीवन को प्रभावित करता है। मन्थरा के अर्थ को स्वीकार कर लेने का परिणाम यह हुआ कि कैकेयी का सारा जीवन दुःख और ताप की सीमा में पहुँच गया। तो, सतीजी ने भी सही अर्थ नहीं लिया, उन्होंने ऐसा मान लिया कि पूजन मेरी योग्यता का परिणाम है, पूजन करनेवाले की नम्रता का नहीं। परिणाम यह होता है कि अगस्त्य जब रामकथा सुनाने लगे, तो शंकरजी ने तो बड़े प्रेम से सुनी—

रामकथा मुनिवर्ज बखानी ।
सुनी महेस परम सुखु मानी ॥— १।४८।३

—पर सती के सुनने का वर्णन नहीं किया गया। इसके पश्चात् जब सती भगवान् शंकर के साथ वापस लौटती हैं, तो तुलसीदासजी ने अपनी साहित्यिक पद्धति में उनका नाम बदल दिया। तुलसीदासजी से पूछा गया—शंकरजी के साथ भवानी भी तो थीं न? गोस्वामीजी बोले—थीं तो, पर अब भवानी नहीं हैं—

मुनि सन विदा माँगि त्रिपुरारी ।
चले भवन संग दच्छ कुमारी ॥——१।४८।६

——अब तो दक्षकुमारी जा रही हैं, शिव की पत्नी नहीं है ! उनमें पिता के जो अहं के संस्कार हैं, वे प्रबल हो उठे हैं। उसके बाद और एक संकेत प्राप्त होता है। सती को आगे चलकर श्रीराम को देख भ्रान्ति होती है। नाटक को यदि कोई नाटक समझ ले, तो भ्रान्ति नहीं होती, पर नाटक को यदि नाटक न समझा जाय, तो भ्रम होना स्वाभाविक है। जब आप नाटक देखने जाते हैं, तो यह जानकर जाते हैं कि लीला देखेंगे। तब उसका आनन्द लेते हैं और भ्रम में नहीं पड़ते। यदि सती ने कथा सुन ली होती, तो समझ जातीं कि यह राम की लीला है। पर उन्होंने कथा सुनी नहीं, और राम की लीला देख ली, राम को रोते देखा, शंकर को दूर से प्रणाम करते देखा, और बस, उन्हें भ्रम हो गया। फिर मन में तर्क-वितर्क होने लगा। यह भाँपकर भगवान् शंकर ने सतीजी से कहा——

जौं तुम्हरें मन अति सन्देहू ।
तौं किन जाइ परीछा लेहू ॥——१/५२/१

——अगर तुम्हारे मन में इतना संशय है, तो तुम जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं ? भगवान् शंकर ऐसा कहकर मानो सती की ही परीक्षा ले रहे थे, सती को परीक्षा लेने के लिए नहीं भेज रहे थे। ईश्वर जिज्ञासा का विषय है अथवा परीक्षा का ? प्रश्न जिज्ञासा में भी है और

परीक्षा में भी। पर जिज्ञासा में विद्यार्थी गुरु से प्रश्न करता है, जबकि परीक्षा में गुरु शिष्य से प्रश्न करता है। तो, ईश्वर जिज्ञासा का विषय हो सकता है, परीक्षा का नहीं। पर यहाँ बात विचित्र हो गयी। जिज्ञासा ईश्वर की परीक्षा लेने को तैयार हो गयी। सती जब परीक्षा लेने जाने लगीं, तो शंकरजी घबरा गये। विचार करने लगे कि सती का अहंकार बढ़ गया है, वे ईश्वर की परीक्षा लेना चाहती हैं ! और यह सोच उन्होंने अपना विरोध प्रकट कर दिया। सतीजी ने जब उनसे भी साथ चलने के लिए कहा, तो वे बोले, मुझमें इतनी योग्यता नहीं कि मैं ईश्वर की परीक्षा ले सकूँ। मैं यहीं बैठा हुआ हूँ, तुम परीक्षा लेकर आ जाओ। फिर प्रसंग आता है, सतीजी जब भगवान् राम के पास पहुँचीं, तो उन्होंने सीता का वेश बना लिया।-उन्हें देखते ही भगवान् राम ने--

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।--१५/३/६

--हाथ जोड़कर प्रणाम किया। प्रणाम क्यों किया ? भगवान् का तात्पर्य यह था कि यदि आप जिज्ञासा लेकर आयी होतीं, तो आप प्रणाम करतीं, पर आप तो परीक्षा लेने आयी हैं, अतः विद्यार्थी को चाहिए कि वह गुरु को प्रणाम करे। इसलिए अब तो मुझे ही आपको प्रणाम करना पड़ेगा। गीता में भी कहा गया है--

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।--४/३४

--और भगवान् सती को प्रणाम करते हैं। तत्पश्चात् सती वहाँ से घबराकर लौटती हैं और शंकर से असत्य

भाषण करती हैं। फलस्वरूप भगवान् शंकर के द्वारा सती का परित्याग कर दिया जाता है और उसके बाद शिव समाधि में चले जाते हैं। इस कथा का तत्त्व क्या है ? शिव को ऐसा लगता है कि मैंने विवाह करके भूल कर दी। वे सती के मिथ्या व्यवहार से क्षुब्ध हो अन्तर्मुखीन होकर आत्मसुख में संलग्न हो जाते हैं। उन्हें बाहर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें पत्नी की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे पूर्णकाम हैं, आत्मकाम हैं। शिव के द्वारा सती के परित्याग का तात्पर्य यह है कि विश्वास ऐसी जिज्ञासा को स्वीकार नहीं करता, जिसमें कपट है, अहंकार है, असत्य भाषण है। शिव के द्वारा परित्यक्त कर दिये जाने पर सतीजी जाकर अपने आपको दक्ष-यज्ञ में जला डालती हैं। बाद में रामायण में एक बड़ा तात्त्विक और गम्भीर संकेत आता है। शंकरजी समाधि में तो चले गये, स्वयं उन्हें तो विवाह की आवश्यकता नहीं रही, लेकिन प्रश्न उठता है कि लोककल्याण के लिए, समाज के लिए उनकी अन्तर्मुखता लाभदायक है क्या ? वहाँ यह संकेत दिया गया है कि शंकरजी की अन्तर्मुखता का लाभ दैत्यगण उठाने लगे। तारकासुर दैत्य ने तो सारे संसार को ही जीत लिया और जब उससे ब्रह्मा ने पूछा कि तुम क्या वरदान चाहते हो, तो उसने कहा कि मैं किसी से न मरूँ। जब ब्रह्माजी ने बताया कि ऐसा वरदान तो नहीं दिया जा सकता, तो तारकासुर ने कहा कि अच्छा, तब यही वरदान दे दीजिए कि शंकर के शरीर से

जन्म लेनेवाले पुत्र के सिवाय और किसी से मेरी मृत्यु न हो। ये जितने भी असुर थे, वे हमेशा अपने को देवताओं से बुद्धिमान मानते थे। तारकासुर अपने को सबसे बुद्धिमान समझता था। उसने सोचा, विवाह तो वह व्यक्ति करता है, जिसका मन बहिर्मुखी होता है, जिसे विवाह के आकर्षण का अनुभव होता है, पर शिव तो समाधिस्थ हैं, वे तो विवाह करेंगे ही नहीं। और जब ब्याह ही नहीं करेंगे, तो पुत्र कैसे होगा ? अतः न तो शंकरजी का बेटा होगा, न ही मेरी मृत्यु होगी। बड़ी दूरदर्शी योजना तारकासुर ने बनायी थी और कुछ अंश तक वह अपनी इस योजना में सफल भी हुआ था। भगवान् शंकर अन्तर्मुखी बन, समाधिस्थ हो बैठे थे और तारकासुर सारे संसार पर शासन कर रहा था। तब देवताओं को लगा कि किसी भी प्रकार शंकरजी को भीतर से बाहर लाना पड़ेगा। यही अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता के समन्वय का बिन्दु है। शिवजी की समाधि उनके अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है, पर समाज के लिए वह आदर्श स्थिति नहीं थी। मैं आपको आज केवल इतना सूत्र दे रहा हूँ कि यही एक ऐसा मूल केन्द्र है, जहाँ राम और काम का एक मत है। वैसे तो राम और काम को परस्पर विरोधी कहा जाता है। गोस्वामीजी स्वयं कहते हैं——

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकहिं रवि रजनी इक ठाम॥

कहा गया है कि जब भगवान् राम ने शंकरजी को

सती के वियोग में कठोर संयम करते और सतत अन्त-र्मुखीन होते देखा, तो वे शंकरजी के सामने प्रकट हो गये। गोस्वामीजी के काव्य की विशेषता यह है कि वह काव्य भी है और दर्शन भी। तो, राम के प्रकट होने का अर्थ क्या है? राम मानो शिव से पूछते हैं कि जब आप आँख मूँदकर समाधि में जाते हैं, तो आप यह मान लेते हैं कि बाहर देखने योग्य कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ है सब भीतर ही है। पर यह बताइए कि यदि मैं बाहर खड़ा हो जाऊँ, तब आप बाहर दृष्टि डालेंगे या नहीं? और शंकर को बाहर देखना पड़ता है। जब भगवान् शंकर बाहर श्रीराम को देखते हैं, तब--

अति पुनीत गिरिजा कै करनी।
बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥-- १।७६।८

--भगवान् राम शंकरजी को पार्वती की कथा सुनाते हैं। गोस्वामीजी का शब्द-चयन तो देखिए। वे लिखते हैं-- **"बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी!"** सती कौन थीं? वे, जिन्होंने राम की कथा नहीं सुनी। पर भगवान् राम इतने उदार हैं कि उन्हीं सतीजी की कथा स्वयं शंकर को प्रेम से सुनाते हैं। यही 'कृपानिधि' शब्द का तात्पर्य है। कथा सुनाने के बाद शंकर से श्रीराम कहते हैं--

अब बिनती मम सुनहु सिव ज्यों मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥--१।७६

--मैं आपके पास एक याचना लेकर आया हूँ, वह यह कि आप विवाह कर लीजिए। शंकरजी को यह बात प्रिय

न लगी, तथापि उन्होंने श्रीराम से कहा कि आपकी आज्ञा सिर माथे पर है--

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं ।
नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं ।।
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा ।-- १।७७।१-२

पर भगवान् राम को सन्तोष नहीं हुआ । वे बोले-- नहीं, नहीं, मेरी आज्ञा को सिर पर न रखिए । आपके सिर पर से गंगा की जो धारा वह रही है, मुझे डर है कि कहीं उस धारा में मेरी आज्ञा भी न वह जाय ! इसका अर्थ यह है कि भक्ति की तरंग में कहीं विवाह की इच्छा डूब न जाय, वह न जाय । और सचमुच भगवान् शंकर वात को भूल ही गये और फिर से समाधि में डूब गये । तव ब्रह्मा और देवताओं ने काम से अनुरोध किया कि तुम जाकर शंकर के मन में क्षोभ उत्पन्न करो । और हम देखते हैं कि काम शंकर को अन्तर्मुखता से खींचकर वहिर्मुख वनाना है । राम जो काम न कर पाये, वह काम ने किया । यह एक वड़ा विचित्र सा प्रसंग है । काम की प्रेरणा से जव शंकर भीतर से वाहर निकलकर आये, तव उन्होंने पार्वती को स्वीकार किया और तव कहीं तारकासुर का संहार हुआ । तत्पश्चात् संसार में सुख-शान्ति की स्थापना हुई ।

तो, कथा का मूल तत्त्व क्या है ? एक व्यक्ति केवल अन्तर्मुख है, वह अध्यात्मवादी है और दूसरा व्यक्ति केवल वहिर्मुख है, वह भौतिकवादी है । इनमें से प्रत्येक दूसरे के

विना अपूर्ण है। केवल एक के द्वारा समस्या का समाधान नहीं हो सकता। संसार की समस्या न तो केवल भीतर देखने से और न केवल बाहर देखने से सुलझेगी। शिव निरन्तर समाधिस्थ होते हुए भी, पूर्णकाम होते हुए भी लोककल्याण के लिए बाहर दृष्टि डालना स्वीकार करते हैं और नेत्र खोलकर संसार की समस्या का समाधान करते हैं, तारकासुर का संहार करते हैं। इस प्रकार भगवान् शंकर के द्वारा जिस समन्वयात्मक दर्शन का प्रतिपादन किया गया, वही 'रामचरितमानस' का भी मूल दर्शन है। इसी दृष्टि से तुलसीदासजी ने कविता के साथ सम्पत्ति और कीर्ति दोनों को जोड़कर समन्वय की त्रिवेणी का संकेत किया। जैसे गंगा के साथ यमुना और सरस्वती के मिलन में त्रिवेणी-संगम की भावना है, वैसे ही तुलसीदासजी ने कविता के साथ कीर्ति और सम्पत्ति को मिलाकर एक त्रिवेणी की सृष्टि कर दी और तीनों के मूल में गंगा की धारा की, गंगा के दर्शन की स्थापना कर दी। इसका मूल तात्पर्य यह है कि कुछ वस्तुएँ पुरानी होते हुए भी नित्य नूतन रहती हैं। सूर्य कितना पुराना है, पर है नित्य नूतन। चन्द्रमा कितना पुरातन है, पर जब भी वह व्यक्ति की आँखों के सामने दिखायी देता है, तो वह नित-नूतन ही दिखता है। यही गंगा की भी विशेषता है। भौतिक दृष्टि से गंगा का उद्‌गम हिमालय से है, पर हमारी श्रद्धा कहती है कि उसका उद्‌गम हिमालय नहीं, बल्कि भगवान् शंकर का मस्तक है। उससे भी जब हम

आगे बढ़ते हैं, तो कहते हैं कि गंगा का उद्गम ब्रह्मा का कमण्डलु है और जब उससे भी आगे हम बढ़ जाते हैं, तो कहते हैं कि गंगा का उद्गम है भगवान् विष्णु के चरण। यह गंगा भगवान् विष्णु के चरणों से निकलती है, ब्रह्मा के कमण्डलु में आती है और भगवान् शंकर के मस्तक पर उतरती है। इस प्रकार वह तीनों से जुड़ी हुई है। फिर भगवान् शंकर के मस्तक से हिमालय के माध्यम से नीचे उतरकर वह संसार के लोगों को प्राप्त होती है। इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का उद्गम केवल भौतिक पदार्थ होगा, वह स्थायी नहीं हो सकती, पर जिसका मूल ईश्वर होगा, वह ईश्वर के समान ही शाश्वत होगी। अलबत्ते आजकल बहुत से लोग ईश्वर को पुराना हो गया मानकर त्यागे दे रहे हैं। ऐसे नवीनता-प्रेमियों के लिए तो मैं कुछ नहीं कह सकता हूँ। पर 'मानस' की मान्यता यह है कि रामकथा शाश्वत है। वह गंगा के ही समान चिर-पुरातन और नित्य-नूतन है। वह इतनी प्राचीन है कि उसके मूल उद्गम का पता नहीं चलता। भौतिक दृष्टि से वाल्मीकि, कम्ब, तुलसीदास आदि इसके रचयिता के रूप से सामने आते हैं, पर वस्तुतः उसका मूल रचयिता कौन है, इसका पता नहीं चलता।

गंगा के उद्गम की कथा आपने पढ़ी होगी। बलि यज्ञ कर रहा था, दान दे रहा था, तब भगवान् बौने बन-कर आये। बलि ने कहा—मैं दानी हूँ, जो चाहो माँग लो। जब जीव दानी बन गया, तो भगवान् बौने बन

गये ! उन्होंने बलि से पूछा—क्या दोगे ? बलि बोला—कह दिया न, जो चाहोगे वही मिलेगा ! भगवान् हँस पड़े, बोले—अच्छा, तीन पग दे दो। कितना बड़ा व्यंग्य था यहाँ पर ! दो पगवाला जीव क्या कभी तीन पग दे सकता है ? बलि ने 'तथास्तु' तो कह दिया, पर भगवान् ने जब नापना प्रारम्भ किया, तो उसका अधूरापन सिद्ध हो गया। उसी समय ब्रह्मा ने भगवान् नारायण का पग धोकर जल को कमण्डलु में रख लिया और वही गंगा है। तो, गंगा का उद्‌गम ईश्वर से है और वह अपने उद्‌गम के ही समान शाश्वत है।

अतः तात्पर्य यह है कि न तो कीर्ति किसी व्यक्ति की होती है, न कविता, और न सम्पत्ति ही। इस सबका एकमात्र स्वामी तो ईश्वर है। व्यक्ति केवल अपने कमण्डलु में, अपने मस्तक में अथवा भगीरथ के समान मृत्युलोक में उसे ले आकर लोककल्याण की दृष्टि से उसका लाभ उठा सकता है। इस दृष्टि से यह जो रामकथा है, वह पुरातन होते हुए भी गंगा के समान शाश्वत और नित्य-नूतन है।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) सबसे महान् कौन ?

एक वार देवर्षि नारद के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि सवसे महान् कौन है ? वे वैकुण्ठ गये और उन्होंने प्रभु से यही प्रश्न किया।

प्रभु ने मुसकराते हुए उत्तर दिया--"नारदजी ! सवसे वड़ी तो यह पृथ्वी दिखती है, इसलिए हम पृथ्वी को 'सवसे वड़ी' की संज्ञा दे सकते हैं, मगर समुद्र ने उसे घेर रखा है, इस कारण समुद्र उससे भी बडा रहा। किन्तु इस समुद्र को भी अगस्त्य मुनि ने पी लिया था, इस कारण समुद्र कैसे बड़ा हो सकता है ? तव तो अगस्त्य मुनि सबसे वड़े हुए, मगर उनका भी वास कहाँ है ? अनन्ताकाश के एक सीमित, सूचिका-सदृश भाग में वे मात्र एक जुगनू की तरह चमक रहे हैं, इसलिए आकाश उनसे वड़ा हुआ। लेकिन वामनावतार में भगवान् विष्णु ने इस आकाश को भी एक ही पग में नाप लिया था, इस कारण विष्णु ही सर्वोपरि महान् सिद्ध होते हैं। फिर भी नारद ! विष्णु भी सर्वाधिक महान् नहीं हैं, क्योंकि वे तुम्हारे हृदय में अंगुष्ठ मात्र स्थल में ही सर्वदा अवरुद्ध देखे जाते हैं, इसलिए वास्तव में सबसे महान् तो तुम्हीं सिद्ध हुए !"

(२) राज्य की सीमा

एक वार एक ब्राह्मण से कोई अपराध हुआ और महाराज जनक ने उसे अपने राज्य से निष्कासित होने का दण्ड दिया। ब्राह्मण ने पूछा, "महाराज ! मुझे आप यह वता दें कि

आपका राज्य कहाँ तक है, ताकि मैं उसके बाहर जा सकूँ?"

तब राजा जनक सोचने लगे कि वास्तव में उनके राज्य की सीमा कहाँ तक है। पहले तो उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना अधिकार-सा प्रतीत हुआ और फिर मिथिला नगरी पर। आत्मज्ञान के झोंके में वह अधिकार घटकर प्रजा तक और फिर उनके शरीर तक सीमित हो गया, मगर अन्त में उन्हें अपने शरीर पर भी अधिकार का भान नहीं हुआ। वे ब्राह्मण से बोले, "आप जहाँ भी चाहें रहें, क्योंकि मेरा किसी भी वस्तु पर अधिकार नहीं है।"

ब्राह्मण को आश्चर्य हुआ, उसने पूछा, "महाराज! इतने बड़े राज्य के अधिकारी होते हुए भी आप सभी वस्तुओं के प्रति कैसे निर्मम हो गये हैं! अभी अभी तो आप सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना अधिकार होने की सोच रहे थे न?"

राजा जनक बोले, "संसार के सभी पदार्थ नश्वर हैं। शास्त्रानुसार न तो कोई अधिकारी सिद्ध होता है और न कोई अधिकार योग्य वस्तु ही है। अतः मैं किसे अपने अधिकार में समझूँ? जहाँ तक स्वयं को पृथ्वी का अधिकारी समझने की बात है, मैं स्वयं के लिए तो कुछ करता ही नहीं हूँ, जो कुछ करता हूँ, वह देवता, पितर, भूत और अतिथि-सेवा के लिए ही करता हूँ, इसलिए पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश और अपने मन पर मेरा अधिकार कैसे हुआ?"

यह सुनते ही ब्राह्मण ने अपना चोला बदल दिया, बोला, "महाराज! मैं धर्म हूँ। आपकी परीक्षा लेने के

लिए ब्राह्मण-वेश में आपके राज्य में वास कर रहा था। मैं समझ गया कि सत्त्वगुणरूप नेमियुक्त ब्रह्मप्राप्तिरूप चक्र के आप ही संचालक हैं।"

(३) असत्य वचन का परिणाम

सत्ययुग में एक वार देवताओं ने महर्षियों से पूछा, "श्रुति कहती है कि यज्ञ में 'अजवलि' होनी चाहिए। 'अज' यानी 'वकरा', इसलिए उसकी वलि आप लोग क्यों नहीं देते?"

इस पर महर्षियों ने कहा, "देवताओं को मनुष्यों की वुद्धि को इस प्रकार भ्रम में नहीं डालना चाहिए। वास्तव में वीज का नाम ही 'अज' है। वेद 'अज' यानी बीज या अन्न से यज्ञ करने का निर्देश देता है। इस कारण यज्ञ में पशुवध करना सज्जनों का धर्म नहीं है।"

वात देवताओं को जँची नहीं। उन्होंने इस तर्क को नहीं माना। उसी समय आकाश-मार्ग से राजा उपरिचर जा रहे थे। उन्हें देख देवता और महर्षि मध्यस्थ बनाने के इरादे से उनके पास गये। उन्होंने सारा हाल कह सुनाया और पूछा कि यज्ञ में पशुवलि होनी चाहिए या नहीं?

राजा उपरिचर ने सोचा कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यह अवसर अच्छा है, इसलिए उन्होंने निर्णय दे दिया--"देवताओं का कथन ठीक है, यज्ञ में पशुवलि होनी ही चाहिए।"

यह गलत निर्णय सुनते ही महर्षियों को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा, "तूने पक्षपात करके असत्य निर्णय दिया है, इस कारण हम शाप देते हैं कि तू देवलोक में

कभी भी न जा सकेगा। पृथ्वी में भी तेरे लिए कोई स्थान नहीं है, तू अब पृथ्वी में धँस जायगा।"

उपरिचर उसी समय आकाश से गिरने लगे। इससे देवताओं को दया आयी। वे बोले, "महाराज ! महर्षियों के वचनों को मिथ्या करने की शक्ति हममें नहीं है। महर्षियों का पक्ष ही सत्य सिद्ध हुआ। हमसे अनुराग होने के कारण ही आपने हमारा पक्ष लिया था, इसलिए हम वरदान देते हैं कि जब तक आप भूगर्भ में रहेंगे, यज्ञ में ब्राह्मणों द्वारा जो घी की धारा डाली जाएगी, वह आपको प्राप्त होगी, जिससे आपको भूख-प्यास का कष्ट न हो पाएगा।"

(४) वैराग्य की महिमा

जन्म लेते ही शुकदेवजी वन को जाने लगे। यह देख उनके पिता व्यासजी बोले, "बेटा ! कुछ दिन ठहरो। मैं तुम्हारे कुछ संस्कार तो कर दूँ।"

इस पर शुकदेवजी ने कहा, "अब तक जन्म-जन्मान्तरों में मेरे असंख्य संस्कार हो चुके हैं। उन्होंने मुझे भव-वन में भटका रखा है, इसलिए अब मैं उनसे कोई सरोकार नहीं रखना चाहता।"

व्यासदेव बोले, "तुम्हें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों में प्रवेश करना ही चाहिए, तभी तुम्हें मोक्ष प्राप्त हो सकेगा।"

शुकदेव बोले, "अगर ब्रह्मचर्य से मोक्ष मिलता है, तो नपुंसकों को वह हमेशा ही प्राप्त रहता होगा; अगर गृहस्थाश्रम से मोक्ष मिलता होता, तब तो सारी दुनिया

ही मुक्त हो गयी होती; अगर वानप्रस्थों को मिलता होता, तो सारे पशु-पक्षी मुक्त हो गये होते। अगर संन्यास से मोक्ष मिलता हो, तब तो सारे दरिद्रों को वह फौरन मिलना चाहिए।"

व्यासदेव—"गृहस्थों के लिए लोक-परलोक दोनों सुखद होते हैं। पुत्रहीन नरक-गमन करता है।"

शुकदेव—"अगर पुत्र होने से स्वर्ग मिलता हो, तो शूकरों, कुत्तों और टिड्डियों को भी वह मिलता होगा।"

व्यासदेव—"पुत्र के दर्शन से मनुष्य पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है, पौत्र-दर्शन से देव-ऋण से मुक्त हो जाता है और प्रपौत्र के दर्शन से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।"

शुकदेव—"गीधों की बड़ी लम्बी उम्र होती है। वे अपनी कई पीढ़ियाँ देखते हैं, पौत्र-प्रपौत्र तो उनके लिए साधारण सी बात है, पर न मालूम उनमें से कितनों को मोक्ष मिला होगा!"

और यह कह शुकदेवजी वन में चले गये।

(५) आत्मा की ज्योति

महर्षि याज्ञवल्क्य के पास महाराज जनक बैठे थे, बोले, "महर्षि! मेरे मन में एक शंका है, कृपया उसका निवारण करें। हम जो कुछ देखते हैं, वह किसकी ज्योति से देखते हैं?"

महर्षि ने कहा, "यह क्या बच्चोंवाली बात करते हैं आप? प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि हम जो कुछ देखते हैं, वह सूर्य की ज्योति के कारण देखते हैं।"

जनक ने पुनः प्रश्न किया, "मगर जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब हम किसके प्रकाश से देखते हैं ?"

महर्षि ने उत्तर दिया, "चन्द्रमा के प्रकाश से !"

जनक का अगला प्रश्न था, "जब सूर्य न हो, चन्द्रमा न हो, तारे-नक्षत्र न हों और अमावस्या के बादलों से भरी घोर अँधेरी रात हो, तब ?"

महर्षि बोले, "तब हम शब्दों की ज्योति से देखते हैं। कल्पना करें--विस्तृत वन है, घनघोर अँधेरा है। एक पथिक मार्ग भूल गया है, वह आवाज देता है--'मुझे मार्ग दिखाओ !' तब दूर खड़ा एक व्यक्ति इन शब्दों को सुनकर कहता है--'इधर आओ, मैं मार्ग में खड़ा हूँ।' और पहला व्यक्ति शब्दों के प्रकाश से उस व्यक्ति के पास पहुँच जाता है।"

जनक ने पूछा, "महर्षे ! जब शब्द भी न हो, तब हम किस ज्योति से देखते हैं ?"

महर्षि बोले, "तब हम आत्मा की ज्योति से देखते हैं। आत्मा की ज्योति से ही सारे कार्य होते हैं।"

"और यह आत्मा क्या है?" राजा जनक ने प्रश्न किया।

ऋषि ने उत्तर दिया--"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।"--अर्थात् "यह जो विशेष ज्ञान से भरपूर है, जीवन और ज्योति से भरपूर है, जो हृदय में जीवन है, अन्तःकरण में ज्योति है और सारे शरीर में विद्यमान है, वही आत्मा है।"

रामानुज-दर्शन

ब्रह्मचारी दुर्गेश चैतन्य

(गताक से आगे)

मोक्ष के साधन:—हमने देखा कि सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति। इसीलिए भारतीय दर्शन के आचार्यों ने अपने अपने दर्शन में दार्शनिक तत्त्वों के साथ साथ मोक्षप्राप्ति के उपायों का भी वर्णन किया है। आचार्य रामानुज ने मोक्षप्राप्ति के उपाय के रूप में भक्ति तथा प्रपत्ति का राजमार्ग हमारे सामने रखा है। भक्ति का पथ भारतीय दर्शन में अत्यन्त प्राचीनकाल से मान्य रहा है। आचार्य रामानुज ने किसी नये पन्थ का प्रवर्तन नहीं किया, अपितु प्राचीनकाल से चले आ रहे साधनपथ को पुनरुज्जीवित कर उसे जनसुलभ बना दिया।

सदियों की परम्परा के कारण 'भक्ति' शब्द का अर्थ इतना व्यापक हो गया है कि केवल 'भक्ति' कहने पर हमारे मन में कोई एक सुनिश्चित धारणा नहीं बन पाती। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "पूजा की निम्नकोटि की सामान्य विधि से लेकर ईश्वर-साक्षात्कार तक की चरमावस्था 'भक्ति' शब्द की सीमा के भीतर आ जाती है।"* किन्तु रामानुज का भक्तिविषयक आशय स्पष्ट करते हुए विद्वान् लेखक ने आगे लिखा है—"रामानुज की दृष्टि में, मनुष्य का शान्ति एवं ध्यानपूर्वक ईश्वर के पूर्ण ज्ञान तक पहुँचना ही भक्ति है।"† स्वामी विवेकानन्द ने अपने

---

* Indian Philosophy, Vol. II, Page 704

† वही।

भक्तियोग के व्याख्यान में भक्ति की अत्यन्त सरल किन्तु प्रगल्भ परिभाषा दी है। वे कहते हैं--"भक्तियोग ईश्वर की वास्तविक तथा निष्ठापूर्ण वह खोज है, जिसका प्रारम्भ प्रेम से होता है, जो प्रेम में बढ़ता है तथा जिसकी परिणति प्रेम है। ईश्वर के प्रति अतिशय प्रेम की उन्मादकता का एक क्षण भी हमारे जीवन में शाश्वत मुक्ति ला देता है।"‡

भक्तियोग भावनात्मक उन्माद (emotional excitement) की अवस्था नहीं है, किन्तु ज्ञानपूर्वक निःस्वार्थ भाव से किये गये कर्मों के द्वारा शुद्ध हुए चित्त में ईश्वर के प्रति स्वयं-स्फुरित असीम प्रेम की परिपूर्ण अवस्था है। स्वयं आचार्य रामानुज ने अपने गीताभाष्य के प्रथम अध्याय की भूमिका में भक्ति को परम पुरुषार्थ कहा है, तथा उसे ज्ञान-कर्म द्वारा प्राप्तव्य बताया है।

अनेक बार लोग ज्ञान और भक्ति को परस्पर विरोधी समझते हैं, या उनमें अत्यधिक अन्तर मानते हैं। किन्तु स्वामी विवेकानन्द ने हमें स्पष्ट शब्दों में बताया है कि "ज्ञान और भक्ति में उतना अन्तर नहीं है, जितनी कि लोग कल्पना कर लेते हैं।"

भक्तिपथ को ईश्वर-प्राप्ति का सबसे स्वाभाविक तथा सहज पथ कहा गया है, किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव-मन की संसार तथा सांसारिकता के प्रति स्वाभाविक आसक्ति भक्ति नहीं है। भक्ति और आसक्ति

‡ Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. III, Page 31, Birth Centenary Edition.

के अन्तर को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने शाण्डिल्य सूत्र के स्वप्नेश्वर रचित भाष्य का हवाला देते हुए हमें स्पष्ट बताया है कि पत्नी-पुत्र आदि के प्रति आसक्ति की वृत्ति भक्ति नहीं है। सूत्र में 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है—अनु = पश्चात्, रक्ति = आसक्ति; अर्थात् वह आसक्ति, जो ईश्वर की परम महिमा का ज्ञान होने के पश्चात् भक्त के हृदय में उत्पन्न होती है।

अतः यह स्पष्ट है कि भक्तियोग की साधना के लिए भी साधक को पूर्ण नैतिक जीवन, सदाचार, पवित्रता, स्वाध्याय आदि के द्वारा स्वयं को तैयार करना पड़ता है। इसीलिए भक्तियोग के साधकों के लिए आचार्य रामानुज ने विभिन्न यम-नियमों का निर्देश दिया है। ये नियम सभी आध्यात्मिक साधकों के लिए बड़े उपयोगी हैं। इनके समुचित आचरण के द्वारा साधक सिद्धि की क्षमता प्राप्त कर लेता है। संक्षेप में, ये नियम निम्नानुसार हैं:—
(१) विवेक, (२) विमोक, (३) अभ्यास, (४) क्रिया, (५) कल्याण, (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्ष। इन नियमों का यथावत् पालन करने पर साधक को शनैः शनैः भक्ति की प्राप्ति होती है।

विवेक :—रामानुज के अनुसार शुभाशुभ के विचार के साथ साथ खाद्याखाद्य का विचार भी विवेक के अन्तर्गत सम्मिलित है। अतः साधक को सावधानीपूर्वक भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार करना चाहिए। खाद्य पदार्थ तीन कारणों से अशुद्ध हो जाते हैं:—

(१) जातिदोष:––खाद्य पदार्थ के स्वाभाविक दोष; जैसे लहसुन, प्याज आदि। इनमें स्वभावत: तामसिकता का गुण होता है। इनके खाने से व्यक्ति में भी तामसिकता की वृद्धि होती है।

(२) आश्रयदोष:––भोजन जिसके द्वारा आता है या दिया जाता है, उससे प्राप्त दोष। यदि भोजन का पदार्थ दुष्ट लम्पट पापियों के द्वारा दिया जाता है, तो वह अशुद्ध हो जाता है। उस भोजन में दाता के दुर्गुण सूक्ष्म रूप में आ जाते हैं तथा वे भोजन करनेवाले के मन को प्रभावित करते हैं।

(३) निमित्तदोष:–उपर्युक्त दोनों दोषों से भोजन -पदार्थ मुक्त भी हो, तो उसमें एक तीसरा दोष आ सकता है। जैसे खाद्य पदार्थ में मक्खी आदि कीट-पतंगों का पड़ जाना, या धूलिकण, केश आदि का गिर जाना। यह निमित्त-दोष कहा जाता है।

भक्त साधक को यथासाध्य आहार के उपर्युक्त त्रिदोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु अन्य विषयों की तरह यहाँ भी हमें कट्टरवादिता से बचना चाहिए। आहारशुद्धि हमारी आध्यात्मिक साधना का एक उपाय है, लक्ष्य नहीं। सामान्यत: जिस आहार से हमारा शरीर तथा मन स्वस्थ रहे और विकार उत्पन्न न हों, वही आहार हमारे लिए अनुकूल आहार है।

विमोक:––विमोक का अर्थ है इन्द्रियनिग्रह। उद्दाम इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना तथा

परिमित मात्रा में संयमपूर्वक उनसे काम लेना। यह भक्तिपथ ही नहीं, सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधना का आधारस्तम्भ है। विना इन्द्रियनिग्रह के साधक आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ ही नहीं सकता।

अभ्यासः—जिस प्रकार विना अग्नि के ताप उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार विना अभ्यास के किसी भी साधना में सिद्धि नहीं मिल सकती। इन्द्रियनिग्रह, आत्म-संयम, नाम-स्मरण, स्वाध्याय, जप सभी प्रकार की साध-नाओं में सफल होने के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। सिद्धि पर्यन्त निरन्तर दृढ़तापूर्वक साधना में लगे रहना अभ्यास है। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं—"अभ्यास करो। अभ्यास से मन में असीम शक्ति का उदय होता है।"

क्रियाः—क्रिया का अर्थ है पंच महायज्ञों का अनु-ष्ठान। शास्त्रों में पाँच प्रकार के यज्ञों को प्रतिदिन करने का निर्देश दिया गया है। ये पंच महायज्ञ हैं—(१) देवयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) ऋषियज्ञ, (४) नृयज्ञ और (५) भूतयज्ञ।

देवयज्ञः—पूजा-प्रार्थना आदि के द्वारा देवताओं की उपासना करना देवयज्ञ कहलाता है। अग्नि, वायु, वर्षा आदि प्राकृतिक शक्तियाँ देवताओं के आधीन होती हैं। साधकों की उपासना से प्रसन्न होकर देवतागण भौतिक शक्तियों को हमारे अनुकूल बना हमारी उन्नति और श्रीवृद्धि में सहायक होते हैं।

पितृयज्ञः—ऐसी मान्यता है कि हमारे दिवंगत धार्मिक पूर्वज पितृलोक में निवास करते हैं। वे हमसे

स्नेह करते हैं। यदि हम उनका स्मरण करें तथा श्राद्ध-तर्पण आदि के द्वारा उन्हें तृप्त करें, तो वे लोग भी हम पर प्रसन्न होकर हमारी उन्नति और प्रगति में सहायक होते हैं।

ऋषियज्ञ:——हम पर मंत्रद्रष्टा ऋषियों के ऋण हैं। वे हमसे किसी भौतिक वस्तु की अपेक्षा नहीं करते। यदि हम नियमपूर्वक स्वाध्याय, सन्ध्या-वन्दन, उपासना आदि करते हैं, तो वे हम पर प्रसन्न हो कृपा करते हैं। उनके प्रसन्न होने पर हमें आत्म-कल्याण के पथ में बड़ी सहायता मिलती है।

नृयज्ञ:——दीन-दुखियों तथा दरिद्रों की सेवा करना, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा और उपचार आदि की व्यवस्था करना, उसमें सहयोग देना आदि नृयज्ञ कहे जाते हैं। इस प्रकार की सेवा द्वारा हम नररूप में साक्षात् नारायण की ही सेवा करते हैं।

भूतयज्ञ:——मनुष्येतर प्राणी——पशु-पक्षी आदि——की सेवा करना भूतयज्ञ कहा जाता है। अपने भाग के खाद्य पदार्थ में से थोड़ा बचाकर पशु-पक्षियों को देना, उनके लिए पीने के पानी का प्रबन्ध करना आदि। इन सब कार्यों से भी हमारी चित्तशुद्धि होती है।

कल्याण:——इसका साधारण अर्थ है सभी के मंगल की कामना। सभी का शुभ हो, सभी की उन्नति हो, सभी सुख-शान्तिपूर्वक रहें ऐसी भावना। इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने कल्याण-भाव की एक नयी परिभाषा, एक अनूठा अर्थ हमारे सामने रखा

है। वे कहते हैं—"कल्याण का तात्पर्य है पवित्रता।" वस्तुतः पवित्रता ही वह नींव है, जिस पर भक्ति का प्रासाद टिका है। बाह्य शौच, खान-पान में शुद्धि-अशुद्धि का विचार आदि आवश्यक तो हैं, किन्तु उतना ही पर्याप्त नहीं है। मुख्य बात है आन्तरिक शौच और पवित्रता। इसके अभाव में बाह्याचार का कोई मूल्य नहीं है। आचार्य रामानुज ने आन्तरिक शौच के लिए भी कई उपाय बताये हैं:—(१) सत्य, (२) आर्जव अर्थात् सरलता, (३) दया, (४) दान, (५) अहिंसा और (६) अनभिध्या अर्थात् दूसरों के धन का लोभ न करना, दूसरों के द्वारा दिये गये कष्ट या किये गये अपमान का स्मरण न करना, व्यर्थ का चिन्तन न करना।

अनवसाद:—इसका अर्थ है प्रसन्नचित्त और आशावान रहना। भक्तिपथ के साधक को कभी भी निराश और खिन्नचित्त नहीं होना चाहिए। उसे सदैव प्रफुल्ल, उत्साही और आशावान होना चाहिए। निराशा और अवसाद के भाव आध्यात्मिक जीवन के बड़े भारी शत्रु हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने 'अवसाद' की एक नवीन व्याख्या दी है, जो बड़ी प्रेरक और व्यावहारिक है। वे कहते हैं—अनवसाद का अर्थ है 'बल'।* वस्तुतः शक्ति ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता की कुंजी है। बिना शक्ति के जीवन में किसी भी प्रकार की महती उपलब्धि नहीं हो सकती, आध्यात्मिक क्षेत्र में तो और भी नहीं।

* विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खंड, पृष्ठ ४१।

इसीलिए मुण्डक उपनिषद् में कहा है––'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्य:'––बलहीन व्यक्ति को आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती ।

अत: भक्तियोग की साधना के लिए भी सभी प्रकार की दुर्बलताओं का त्याग आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं––"दुर्बलता का तात्पर्य है शारीरिक और मान-सिक दोनों प्रकार की दुर्बलताएँ । वलिष्ठ द्रढिष्ठ व्यक्ति ही ठीक ठीक साधक होने योग्य है । दुर्बल, कृशशरीर तथा जराजीर्ण व्यक्ति क्या करेगा ? . . . युवा, स्वस्थ-काय, सवल व्यक्ति ही सिद्ध हो सकता है। अतएव शारी-रिक बल नितान्त आवश्यक है । स्वस्थ शरीर ही इन्द्रिय-संयम की प्रतिक्रिया को सह सकता है । अत: जो भक्त होने का इच्छुक है, उसे सबल और स्वस्थ होना चाहिए ।

"दुर्बलचित्त व्यक्ति कभी आत्मलाभ नहीं कर सकता । जो व्यक्ति भक्त होने का इच्छुक है, उसे सदैव प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। . . . प्रसन्नचित्त व्यक्ति ही अध्यवसायशील हो सकता है । दृढ़ संकल्पवाला व्यक्ति हजारों कठिनाइयों में भी अपना रास्ता निकाल लेता है । इस मायाजाल को काटकर अपना रास्ता बना लेना सबसे कठिन कार्य है, और यह केवल प्रवल इच्छाशक्तिसम्पन्न पुरुष ही कर सकते हैं ।"†

अनुद्धर्ष:––अत्यधिक आमोद-प्रमोद में न डूब जाना । आमोद-प्रमोद के भावों को भी नियंत्रित रखना अनुद्धर्ष कहलाता है । अत्यधिक आमोद-प्रमोद व्यक्ति को गम्भीर

† वही, पृष्ठ ४१-४२ ।

चिन्तन के अयोग्य बना देता है। उससे मानसिक शक्तियाँ व्यर्थ ही नष्ट हो जाती हैं और व्यक्ति मानसिक दृष्टि से दुर्बल हो जाता है।

उपर्युक्त साधनाओं का निरन्तर अभ्यास करते रहने पर साधक के हृदय में भक्ति का उद्भव होता है और जब भक्ति परिपक्व होती है,तब 'ध्रुवा स्मृति' की प्राप्ति होती है। 'ध्रुवा स्मृति' का अर्थ है ईश्वर का सतत स्मरण, उसके सान्निध्य का सतत अनुभव। यही भक्तियोग का लक्ष्य है।

प्रपत्ति:——आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आचार्य रामानुज की एक दूसरी बड़ी देन है 'प्रपत्ति।' प्रपत्ति का तात्पर्य है स्वयं को ईश्वर के श्रीचरणों में सम्पूर्णरूपेण समर्पित कर देना। ईश्वर की शरण में जाने के लिए कोई शर्त या बन्धन नहीं है। मूर्ख-विद्वान्, धनी-निर्धन, दुर्बल-सबल, ऊँच-नीच सभी व्यक्ति अपने आपको भगवान् के श्रीचरणों में अर्पित कर सकते हैं। भगवान् शरणागत-वत्सल हैं। जो भी कातरतापूर्वक उनसे प्रार्थना करता है तथा सर्वतोभावेन अपना तन-मन-धन उनके श्रीचरणों में अर्पित कर सर्वथा उन पर निर्भर रहता है, उसे वे कृपापूर्वक अपनी शरण में ले लेते हैं तथा उसके सभी दोषों और अप-राधों को क्षमा कर दुर्लभ मुक्तिपद भी उसे प्रदान कर देते हैं।

प्रपत्ति के छह अवयव बताये गये हैं:——(१) आनुकूलस्य संपत्तिः, (२) प्रतिकूलस्य वर्जनम्, (३) रक्षिष्यतीति विश्वासः, (४) गोप्तृत्ववरणम् (५) कार्पण्यम्, (६) आत्मसमर्पणम्।

आनुकूलस्य संपत्तिः——भगवान् की शरण में जाने के

लिए साधक को स्वयं को उसके अनुकूल बनाना होता है। भगवान् सब अपराध क्षमा कर देते हैं, किन्तु कपट और कुटिलता को वे कभी क्षमा नहीं करते। कपट-कुटिलता का दुष्परिणाम व्यक्ति को भोगना ही पड़ता है। भगवान् की शरण-प्राप्ति के लिए सरल तथा निष्कपट होना आवश्यक है। शास्त्रों में वर्णित तथा गुरु द्वारा बताये गये ऐसे ही सद्‌गुण 'अनुकूल सम्पत्ति' कहलाते हैं।

प्रतिकूलस्य वर्जनम्:—झूठ, कपट, दुराचार, पाप आदि अशुभ कर्मों से तथा हीन विचारों से सर्वथा दूर रहना 'प्रतिकूल वर्जन' है। प्रपत्ति के साधक को सतत सावधान रहकर भरसक प्रयास करना चाहिए कि मन, वचन और कर्म से उसके द्वारा कोई ऐसा आचरण न हो जाय, जो ईश्वर तथा ईश्वरभक्ति के विरुद्ध हो।

रक्षिष्यतीति विश्वास:—भक्त का सम्बल भगवान् ही होते हैं। शरणागति या ईश्वर-निर्भरता का अर्थ ही है कि भक्त ने अपने भले-बुरे, योग-क्षेम आदि का सारा भार प्रभु को दे रखा है। भक्त को अपने भविष्य की चिन्ता कभी नहीं होनी चाहिए। जब एक बार हमने अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिया है और जब हम यह भलीभाँति जानते हैं कि प्रभु सर्वज्ञ हैं, सर्व-समर्थ और परम कारुणिक हैं, तब फिर अपने भविष्य या अपनी सुरक्षा की चिन्ता क्यों करें ? प्रभु सर्वज्ञ हैं, अतः वे ठीक ठीक जानते हैं कि हमारे लिए क्या उचित है; वे सर्वशक्तिमान हैं, अतः हमारे लिए जो उचित है, उसे

करने में वे सर्वथा समर्थ हैं; वे परम कारुणिक हैं, अतः हम पर अवश्य ही कृपा करेंगे तथा हमारी रक्षा करेंगे—— ऐसे अटूट विश्वास का भक्त के हृदय में सदैव बना रहना ही अपनी रक्षा का विश्वास है।

गोप्तृत्ववरणम्:——रक्षा के लिए प्रार्थना करना। 'गोप्तृ' का अर्थ होता है अभिभावक या संरक्षक (रक्षा करनेवाला) तथा 'वरणम्' का अर्थ है प्रार्थना करना। छोटा बच्चा यह जानता है कि माँ उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी, उसकी रक्षा करेगी। फिर भी जब वह कष्ट में पड़ता है या उसे किसी चीज की आवश्यकता होती है, तब वह रोता है। यही उसकी प्रार्थना है। उसका रोना सुनकर माँ उसके समीप आती है और उसका दुःख दूर कर उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर देती है। ठीक उसी प्रकार भगवान् को सब कुछ समर्पित करने के पश्चात् उन्हीं पर निर्भर रहते हुए भी भक्त को उनसे अपनी रक्षा करने की, उनकी भुवनमोहिनी माया से अपने को बचाने की सतत प्रार्थना करनी चाहिए।

कार्पण्यम्:——अपनी दुर्बलता और तुच्छता का अनुभव। संसार की विघ्न-बाधाओं तथा अपने स्वयं के मन की हीन वृत्तियों के साथ युद्ध करते करते साधक को जब यह अनुभव होता है कि अब उसकी शक्ति क्षीण हो रही है, विरोधी शक्तियाँ उस पर हावी होती जा रही हैं, तब उसके मन में अपनी निरीहता का जो भाव उत्पन्न होता है, वही कार्पण्य है। भक्त साधक को यह भलीभाँति

समझ लेना चाहिए कि ईश्वर की कृपा और सहायता के विना वह कभी भी माया के परदे को चीरकर उनके श्रीचरणारविन्दों तक नहीं पहुँच सकता।

आत्मसमर्पणम्:—यह प्रपत्ति का फल या अन्तिम अवस्था है। भक्ति और प्रपत्ति की पूर्वावस्थाओं को पार करके ही साधक इस अन्तिम अवस्था में पहुँचता है। विभिन्न साधनाओं तथा अनुभवों से वह भलीभाँति समझ लेता है कि ईश्वर की कृपा के विना उसका अस्तित्व शून्य है, उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया का संचालन अन्तः-करण में बैठा हुआ परमात्मा ही करता है। वह समझ लेता है कि जीवन के प्रत्येक कर्म का प्रेरक और कर्ता परमात्मा ही है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे—"माँ! मैं तो यंत्र हूँ और तू है यंत्री; तू जैसा चलाती है, वैसा ही मैं चलता हूँ।" भक्त के मन में जव यह भाव दृढ़ हो जाता है तथा उसके प्राणों में यह अनु-भव होने लगता है कि सव कुछ प्रभु की इच्छा से ही हो रहा है और यह कि वे ही कर्ता हैं, जब श्वास-प्रश्वास में उसे अनुभव होने लगता है कि प्रभु, 'मैं' नहीं 'तू', तभी उसके जीवन में ठीक ठीक आत्मसमर्पण का भाव आता है। तव साधक का अहंकार विलीन हो जाता है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान की चिन्ता से सर्वथा मुक्त होकर प्रभु के चिन्तन में सतत डूवा रहता है। यही भक्ति और प्रपत्ति की चरम परिणति तथा मानवजीवन के प्रयोजन की उपलब्धि है। (समाप्त)

स्वधर्म-मीमांसा

(गीताध्याय २, श्लोक ३१।)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछले प्रवचन में हमने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष--इन चार पुरुषार्थों पर चर्चा की और कहा कि अर्थ और काम की प्रवृत्तियों को धर्म के अंकुश द्वारा नियंत्रित करना चाहिए और इस प्रकार शरीर, मन और इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त होना रूप चतुर्थ पुरुषार्थ--मोक्ष--की ओर अग्रसर होना चाहिए। हमने पिछली चर्चा के अन्त में एक प्रश्न उठाया था कि अर्थ और काम की इन प्रवृत्तियों को धर्म के नियंत्रण में कैसे लाया जाय? और उत्तर में हमने कहा था--स्वधर्म-पालन के द्वारा।

'स्वधर्म' शब्द बड़ा आपेक्षिक है। मेरा धर्म आपका नहीं हो सकता और न आपका, मेरा। 'स्वधर्म' को गीता में 'सहज कर्म', स्वकर्म 'स्वभावज कर्म', 'स्वभावनियत कर्म', 'स्वभावप्रभव कर्म', आदि कहकर भी पुकारा है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का स्वधर्म उसके स्वभाव, उसकी रुचियों से निर्मित होता है। जो स्वधर्म का अति स्थूल विभाजन है, उसे 'वर्ण' कहकर पुकारा गया है। एक ही वर्ण में असंख्यों व्यक्ति हो सकते हैं, उन सबकी व्यक्तिगत रुचियों में भिन्नता हो सकती है, पर उनका लक्ष्य और उस लक्ष्य को पाने की प्रणाली मोटे तौर पर एक हुआ करती है। सारा संसार त्रिगुणात्मक है--सत्त्व, रज और तम की शक्तियों

के विभिन्न मेल से यह निर्मित हुआ है। इन तीनों के चार प्रकार के विशेष मेल को 'वर्ण' कहते हैं, और इस वर्ण के मूल आधार पर हिन्दुओं ने स्वधर्म की रचना की है। इस प्रकार हिन्दू चार वर्णो को मान्यता देते हैं।

शास्त्रों ने कहा है कि सत्त्वगुण की प्रधानता मे ब्राह्मण; रजोगुण, जिसमें सत्त्व तम से अधिक हो, की प्रधानता से क्षत्रिय; रजोगुण, जिसमें सत्त्व की अपेक्षा तम अधिक हो, की प्रधानता से वैश्य; तथा तमोगुण की प्रधानता से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई है। हम इसे समझने के लिए त्रिगुणों के काल्पनिक विभाजन कर सकते हैं। ब्राह्मण वर्ण में सत्त्वगुण ५०%, रजोगुण ३०%, तमोगुण २०%। क्षत्रिय वर्ण में सत्त्वगुण ३०%, रजोगुण ५०%, तमोगुण २०%। वैश्य वर्ण में सत्त्वगुण २०%, रजोगुण ५०%, तमोगुण ३०%। शुद्र वर्ण में सत्त्वगुण २०%, रजोगुण ३०%, तमोगुण ५०%। प्रत्येक वर्ण अपने विशिष्ट स्वधर्म को जन्म देता है। गीता में १८।४१-४४ ही भगवान कहते हैं—

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

——हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य अर्थात् प्रकृतिसिद्ध गुणों के अनुसार पृथक्, पृथक्, बँटे हुए हैं।

——शम, दम, तम, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि, यह सब ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म है।

——शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है।

——कृषि, गोरक्षा यानी पशु-पालन और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है। और, इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

उपर्युक्त वर्णधर्मों को ही मोटे तौर पर स्वधर्म कहा जाता है। व्यक्ति जिस वर्ण का होगा, उसी वर्ण का धर्म उसके लिए स्वधर्म होगा। यह विभाजन व्यक्ति की मानसिकता को देखकर और यह मानकर किया गया है कि माता-पिता के ही संस्कार सन्तान के भीतर आते हैं। यह संसार में देखा गया है कि व्यापारी का पुत्र बहुधा व्यापार के ही संस्कार लेकर आता है। बढ़ई या लोहार के बेटे में पिता के संस्कार प्रबल देखे जाते हैं। शासक के बेटे में तदनुरूप संस्कारों की अभिव्यक्ति देखी जाती है। जो पूजा-पाठ और उपासनादि में लगा रहता है, उसका पुत्र भी उन्हीं संस्कारों से युक्त देखा जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस नियम में कोई व्यतिक्रम नहीं

देखा जाता। जैसे प्रत्येक नियम का अपवाद हुआ करता है, वैसे ही यहाँ भी अपवाद होते हैं। ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति क्षत्रिय या वैश्य वर्ण का काम करता देखा जाता है और उसी प्रकार क्षत्रिय या वैश्य वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण के उपयुक्त कार्यों में लगा दिखायी देता है। आजकल तो वर्णों में इतनी तीव्र संकरता हुई है कि वर्ण-व्यवस्था का सारा ढाँचा ही चरमरा गया है। इसलिए वर्णधर्म के आधार पर स्वधर्म का निर्णय अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। जब समाज में वर्णधर्म की प्रतिष्ठा थी, तब स्वधर्म का निर्णय और तदनुकूल आचरण सुगम था। आज स्वधर्म का निर्णय कैसे किया जाय, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष खड़ा होता है। पुराकाल में आजीविका की समस्या उतनी तीव्र नहीं थी, जितनी कि आज है। तब ब्राह्मणवर्ण में उत्पन्न लड़का पूजा-पाठ और पौरोहित्य कर्म में सीधे चला जाता था, उसकी शिक्षा-दीक्षा भी तदनुरूप होती थी। क्षत्रियवर्णोत्पन्न बालक राजा की सेना में भरती हो जाता था। वैश्यवर्ण का लड़का खेती-किसानी, गोपालन या व्यवसाय से लग जाता था और शूद्रवर्ण में जन्म लिया बालक बचपन से ही शरीर-श्रम से होनेवाले कार्यों की ओर झुक जाता था। यह प्रणाली तब तक ठीक रही, जब तक इसमें लचीलापन था, जब तक यह अपवादों को अपने में खपाने की क्षमता रखती थी। पर जब वह इस धारणा में कट्टर हो गयी कि व्यक्ति का वर्ण बदल ही नहीं

सकता, जब उसने 'कर्मणा वर्णनिर्णय' के बदले 'जन्मना वर्णनिर्णय' के सिद्धान्त को अपनी अटल मान्यता दे दी, तब फलस्वरूप 'अधिकारवाद' का विष समाज-शरीर को विषाक्त करने लगा। ब्राह्मणवर्ण में उत्पन्न व्यक्ति वृत्ति में यदि अत्यन्त निम्न हो जाय––मद्यप और लम्पट हो जाय तथा विभिन्न दुष्कर्मों में लीन रहे––तो भी यदि वह ब्राह्मणवर्ण के सारे अधिकारों को अपनें लिए सुरक्षित माने, तो यह वर्णप्रथा की जड़ों पर ही कुठाराघात करना है। और यही हुआ। अपने को उच्चवर्ण का माननेवाले लोग वृत्तियों से हीन हो गये, परन्तु उन्होंने अपने वर्ण-प्रदत्त अधिकारों को नहीं छोड़ा, बल्कि उन अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए वे जनसाधारण का शोषण करने लगे। इससे वर्ण-व्यवस्था डगमगा गयी, और आज जो हम समाज में इतनी अव्यवस्था देखते हैं, उसके लिए उच्चवर्णों का असन्तुलित वर्तन ही दायी है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने अपने ज्वलन्त शब्दों से भारतीय मानस को दिशा दिखाते हुए कहा था––

"विशेषाधिकार की भावना मानव-जीवन के लिए हानिकारक है। दो शक्तियाँ मानो सतत कार्य कर रही हैं-एक तो जाति बना रही है और दूसरी विशेषाधिकारों को नष्ट कर रही है। और जब कभी विशेषाधिकार का नाश होता है, तो वहाँ मानववंश की अधिकाधिक उन्नति होती है, उसमें अधिकाधिक ज्ञानालोक आता है। ... वेदान्ती होना और साथ ही किसी के लिए किसी प्रकार का

भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक विशेषाधिकार स्वीकार करना असम्भव है। वेदान्त में किसी के लिए किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार का स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में एक ही शक्ति है—किसी में अधिक प्रकट हुई है, किसी में कम; वही सामर्थ्य सबमें है।... वेदान्त के अनुसार, जन्मगत उच्च-नीच भेद का कोई अर्थ नहीं।

"जाति स्वभाव पर आधारित एक संस्था है। मैं सामाजिक जीवन में एक काम कर सकता हूँ, तो तुम एक दूसरा—तुम एक देश पर शासन कर सकते हो, तो मैं पुराने जूतों की मरम्मत कर सकता हूँ, पर कोई कारण नहीं कि तुम मेरे सिर को अपने पैरों से कुचलो। यदि कोई हत्या करे, तो उसकी प्रशंसा क्यों की जाय और यदि कोई सिर्फ एक सेब चुराये, तो उसे फाँसी क्यों दी जाय? इस सबका अन्त होना ही चाहिए। जाति अच्छी है, जीवन-क्रम को निभाने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। मनुष्य अपना अपना समूह बनाता ही है, तुम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। कहीं भी जाओ, तुम जाति देखोगे ही। पर उसका यह अर्थ नहीं कि साथ ही विशेषाधिकार भी चिपके रहें। इन विशेषाधिकारों को नष्ट कर देना चाहिए।... अपने को विभिन्न समूहों में विभक्त करना तो समाज का स्वभाव ही है; पर हम जिन्हें नष्ट करना चाहते हैं, वे हैं ये विशेषाधिकार!... यदि तुम ढीमर को वेदान्त पढ़ा दो, तो वह यही कहेगा, 'तुम जिस प्रकार एक मनुष्य हो, वैसा ही मैं भी हूँ। मैं

ढीमर हूँ, तो तुम तत्त्वज्ञानी हो; परन्तु वही ईश्वर मुझमें है, जो तुममें है।' और यही तो हम चाहते हैं—किसी के लिए कोई विशेषाधिकार न रहे, सबको एक-समान अवसर प्राप्त हों। प्रत्येक व्यक्ति को यही सिखाओ कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है; और तब हर एक अपनी मुक्ति का प्रयत्न आप ही करेगा।

"इस प्रकार प्रत्येक विशेषाधिकार को और हममें स्थित उस भावना को, जो हमें अधिकारों के लिए उकसाती है, कुचलकर हमें उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए, जिस ज्ञान से हममें समस्त मानव-जाति के प्रति एकत्व की भावना उत्पन्न हो सके।"

तो, स्वधर्म-पालन वह उपाय है, जो समाज में व्याप्त इस असन्तुलन का निवारण कर सकता है। स्वधर्म का पाठ हमें यह भी पढ़ाता है कि वर्णों का भेद नैसर्गिक अवश्य है, पर उनमें ऊँच-नीच की भावना नैसर्गिक नहीं बल्कि मनुष्यकृत है। शरीर के अंगों में भेद होना नैसर्गिक है। तो क्या हम इसीलिए सिर को ऊँचा और पैर को नीचा मानकर सिर की तीमारदारी करते हैं और पैर की उपेक्षा ? ऐसा कोई न होगा, जो पैर को नीचा मानकर हेय दृष्टि से देखता हो। हम सिर और पैर दोनों का समान ध्यान रखते हैं। पैर की पीड़ा भी हमें उतना ही संत्रस्त और आकुल करती है, जितना कि सिर की। तब हम ऋग्वेद के इस मंत्र का हवाला देते हुए क्यों शूद्रों के प्रति तिरस्कार - भावना का

पोषण करते हैं, जहाँ कहा गया है कि---

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

---'ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुँह है, क्षत्रिय वाहु है, वैश्य जाँघ है और शूद्र पैरों से पैदा हुआ है ।' इस मंत्र को हम इस अर्थ में न लें कि ब्राह्मण जन्म से ही पूजा प्राप्त करने का अधिकारी होता है और शूद्र जन्म से ही प्रताड़ना का । वस्तुतः वर्णों का विभाजन गुणों और कर्मों के वल पर होता है, जैसा कि भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं---

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । ---४/१३

---'मैंने ही चारों वर्णों को गुणों और कर्मों के भेद से वनाया है ।' अतः ब्राह्मणत्व ही ब्राह्मणवर्ण का आधार है, क्षत्रियत्व क्षत्रियवर्ण का, वैश्यत्व वैश्यवर्ण का और शूद्रत्व शूद्रवर्ण का । यही वात गीता के अठारहवें अध्याय में श्लोक ४२ से ४४ तक कही गयी है, जिसका उल्लेख हमनें ऊपर किया ही है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि ब्राह्मण में शूद्रत्व हो, तो वह शूद्र गिना जाने के योग्य है और यदि शूद्र में ब्राह्मणत्व हो, तो वह ब्राह्मणपद का अधिकारी होता है । इस बात को समझाने के लिए महाभारत में सर्प-योनि प्राप्त नहुष की कथा आती है, जहाँ उसका युधिष्ठिर के साथ संवाद वर्णित है । वहाँ सर्प ने वर्ण-व्यवस्था के सम्वन्ध में प्रश्न पूछा है और युधिष्ठिर उस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं---"सत्य, दान, क्षमा, शील, अनृशंसता, तप और दया---ये सव गुण जिसमें

हों, वही ब्राह्मण कहा जा सकता है।" सर्प पुनः पूछता है---"ऐसे लक्षण तो शूद्रों में भी मिलते हैं, तो क्या जिन शूद्रों में ये लक्षण हों, उन्हें ब्राह्मण माना जा सकता है?" युधिष्ठिर कहते हैं--"हाँ।" (वनपर्व, अध्याय १८०)

शूद्रे तु यद्भवेत् लक्ष्य द्विजे तच्च न दृश्यते।
न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प ते शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

--अर्थात्, "शूद्रों में भी यदि ये लक्षण मिलते हैं और द्विजों में यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में यदि नहीं मिलते, तो उस शूद्र को शूद्र नहीं कहना चाहिए और न ब्राह्मण को ब्राह्मण। जहाँ ये लक्षण हों, उसे ही ब्राह्मण कहना चाहिए और जिसमें ये लक्षण न हों, उसे शूद्र कहना चाहिए।"

इस पर सर्प पुनः प्रश्न करता है--"जाति अर्थात् जन्म को वर्ण का प्रमाण क्यों नहीं मानते?" इसका उत्तर देते हुए युधिष्ठिर कहते हैं--

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥

--"हे महासर्प! मनुष्य समान रहने के कारण जाति अर्थात् जन्म की परीक्षा बहुत कठिन है। कौन किसकी सन्तान है, इसकी परीक्षा कैसे की जाय? जबकि दुष्ट स्त्रियाँ व्यभिचार द्वारा सब वर्णों से सन्तान उत्पन्न कर लेती हैं, इसलिए परीक्षा का मुख्य साधन आचार ही है।"

महाभारत में एक दूसरे स्थल पर भी, 'यक्ष-युधिष्ठिर

संवाद' में, यही बात कही गयी है। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा––"ब्राह्मणत्व किससे प्राप्त होता है––कुल से, आचार से, विद्या पढ़ने से या शास्त्रज्ञान से ?" इसका उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा (वनपर्व, अध्याय ३१३)––

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥

––"हे यक्ष ! सुनो। ब्राह्मणत्व में कुल, स्वाध्याय या शास्त्रज्ञान, ये कुछ भी कारण नहीं हैं; केवल वृत्त अर्थात् आचार ही ब्राह्मणत्व का कारण है।"

इस दृष्टि से जब हम अर्जुन की ओर देखते हैं, तो पाते हैं कि वह जन्म से भी क्षत्रिय था और वृत्ति से भी। हम कह चुके हैं कि स्वधर्म का आधार भले ही गौण रूप से जन्म हो, पर मुख्य रूप से वह वृत्ति ही है। और जहाँ जन्म और वृत्ति दोनों में मेल हो, वहाँ तो कुछ कहना ही नहीं। अर्जुन में इन दोनों का मेल था। युद्ध उसके रक्त में था। वह उसके लिए धर्म्य था। ऐसे युद्ध से होनेवाली हिंसा का दोष अर्जुन पर न पड़ता। पर अर्जुन यह बात समझ नहीं पा रहा था, क्योंकि उस पर मोह अत्यन्त हावी हो गया था। वैसे सामान्य रूप से देखें, तो हिंसा दोषपूर्ण है सही; पर जहाँ युद्ध होता हो, वहाँ शत्रुपक्ष के सैनिकों को जितनी अधिक संख्या में निहत किया जाय, वह उतना ही प्रशंसनीय और गौरवपूर्ण होता है। वहाँ वध दोषपूर्ण नहीं है। एक जल्लाद अपराधियों को फाँसी पर लटकाने का कार्य करता है। तो क्या इस कार्य के फलस्वरूप उसे

पाप लगेगा ? नहीं, वह तो मात्र अपना कर्तव्य करता है। इसी प्रकार जो युद्ध हम पर अधर्मपूर्वक थोपा गया है, यदि हम उसका यथोचित रूप से सामना न करें, तो यह युद्ध न करना ही हमारे लिए दोषपूर्ण और पाप का कारण होगा। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम अपने स्वधर्म को देखो। अन्याय का प्रतीकार करना ही तुम्हारा स्वधर्म है। दुर्योधन का पक्ष पूर्णतः अन्याय का है और चूँकि भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य इस अन्यायपूर्ण पक्ष का साथ दे रहे हैं, इसलिए वे भी शासन करने योग्य हैं। वे भले ही व्यक्तिगत दृष्टि से धर्मपरायण हों, पर उनकी धर्मपरायणता यदि अधर्म का पोषण करती है, तो वह समाज के लिए हानिकारक है और उसका शमन होना चाहिए।

लोग कहते हैं कि गान्धारी बड़ी पतिव्रता थीं--इतनी कि जब उन्होंने सुना उनके होनेवाले पति अन्धे हैं, तो उन्होंने अपनी आँखों पर भी पट्टी चढ़ा ली। यह प्रशंसनीय है या खेदजनक ? मैं तो इसे खेदजनक ही कहता हूँ, भले ही लोग गान्धारी के इस कृत्य के लिए उनकी प्रशंसा करें। गान्धारी यदि ऐसा विचार करतीं कि चलो मेरे पति यदि अन्धे हैं, तो मैं अपनी आँखों से देखकर उन्हें रास्ता बताऊँगी, तो इसे मैं विवेकपूर्ण कहता। पर गान्धारी में इस विवेक की कमी है, इसीलिए वे अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लेती हैं। महाभारत का युद्ध जब चल रहा था, वे दुर्योधन को एकान्त में बुलाती हैं और

उससे कहती हैं--"पुत्र ! मेरी आँखों में अद्‌भुत शक्ति है, मैं जिसकी ओर देखूँगी, वह बज्र का हो जाएगा। तू ऐसा कर, रात्रि में चुपचाप मेरे पास आना, सारे कपड़े उतारकर नंगे आना, मैं एक वार तेरे शरीर को देख लूँगी, तो बस, वह वज्र का हो जायगा।। फिर तू अमर हो जायगा और युद्ध में तेरा वध कोई न कर सकेगा।" क्या गान्धारी नहीं जानती थीं कि संसार में कोई मनुष्य अमर नहीं है ? जानती थीं, फिर भी वे अपनी ममता से इतनी अन्धी हो गयी थीं कि उन्होंने दुर्योधन को अमर बना देना चाहा। क्या गान्धारी नहीं जानती थीं कि उनका बेटा दुर्योधन अन्यायी है, अधर्मी है ? सब जानती थीं। उन्होंने राजा धृतराष्ट्र से दुर्योधन की निन्दा करते हुए कहा था कि वे दुर्योधन के कहने में न आएँ। जब दुर्योधन पाण्डवों को दूसरी बार द्यूतक्रीड़ा का आमंत्रण देना चाहता है, तो गान्धारी राजा धृतराष्ट्र को दुर्योधन की बातों में आने से मना करती हैं। कहती हैं (सभापर्व, ७५।२-४)--

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ।।
व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ।।
मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं ही भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ।।

--'आर्यपुत्र ! दुर्योधन के जन्म लेने पर परम

बुद्धिमान विदुरजी ने कहा था—यह बालक अपने कुल का नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिए। भारत! इसने जन्म लेते ही गीदड़ की भाँति हुँआ-हुँआ का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुल का अन्त करनेवाला होगा। कौरवो! तुम लोग भी इस बात को अच्छी तरह समझ लो। भरतकुलतिलक! आप अपने ही दोष से इस कुल को विपत्ति के महासागर में न डुबाइए। प्रभो! इन उद्दण्ड बालकों की हाँ में हाँ न मिलाइए।'

तो, अपने पुत्र दुर्योधन की दुष्कृतियों और दुष्प्रवृत्तियों को भलीभाँति जानते हुए भी गान्धारी अपनी धर्मपरायणता से उपलब्ध सिद्धि का उपयोग दुर्योधन को अमर बनाने के लिए—अधर्म का पोषण करने के लिए करना चाहती हैं। ममता अन्धी ही होती है। यह बात दूसरी है कि भगवान् कृष्ण के कारण गान्धारी अपने मन्तव्य में सफल नहीं होतीं। पर यहाँ प्रश्न यह है कि यदि धर्म की शक्ति अधर्म को अमर बनाने की चेष्टा करे, तो ऐसा धर्म क्या संरक्षणीय है? भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण का धर्म भी ऐसा ही था, जो अधर्म की पीठ ठोंक रहा था। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि—अपने स्वधर्म को देखते हुए भी तुम इस प्रकार डाँवाँडोल होने योग्य नहीं हो। तुम क्षत्रिय हो—यही नहीं, तुममें क्षत्रियत्व कूट-कूटकर भरा हुआ है। यह युद्ध तुम पर थोपा जा रहा है। हस्तिनापुर के राज्य

पर तुम्हारा धर्मपूर्ण अधिकार है। पर दुर्योधन इसे नहीं मानता और कहता है कि युद्ध के विना सुई की नोंक वरावर जमीन भी नहीं दूँगा। मैंने दुर्योधन को समझाने की कोशिश की, सन्धि का प्रयास किया, पर वह कोई वात सुनने के लिए तैयार ही नहीं है। वह वस युद्ध-युद्ध की रट लगा रहा है। भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण दोनों समझते हैं कि दुर्योधन का पक्ष अधर्मपूर्ण है, फिर भी वे उसी का साथ दे रहे हैं। ऐसी दशा में तुम भीष्म और द्रोण की वात सोचकर मन में काँपते क्यों हो? वे तो अधर्म के पोषण में ही लगे हैं, अतः युद्ध करने से तुम्हें हिचकना नहीं चाहिए।"

और यह अत्यन्त सत्य है। उस धर्म से भला क्या लाभ, जो अधर्म का पोषण करता है? यदि हम मन्दिर में जायँ, पूजा--पाठ करें और अन्य धार्मिक कृत्यों के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करें, पर जहाँ अन्याय होता हो, उसके प्रतीकार की चेष्टा न करें, तो हमारा ऐसा धार्मिक भाव किस काम का? भगवान् कृष्ण इस धर्म को aggre-sive (आक्रामक) वनाना चाहते हैं। जैसे अधर्म आक्रामक होता है, धर्म भी उसी प्रकार आक्रामक वने। चार-पाँच धार्मिक व्यक्ति खड़े वात कर रहे हैं और थोड़ी ही दूर पर दो गुण्डे किसी को सता रहे हैं। यदि ये धार्मिक कहलानेवाले व्यक्ति आपस में गुण्डों की केवल निन्दा भर करते रहें और गुण्डों के हाथ से उस सताये जानेवाले व्यक्ति की रक्षा का प्रयास न करें, तो ऐसी धार्मिकता

किस काम की ? यदि उन धार्मिक व्यक्तियों से पूछो कि आप लोग जब अपनी आँखों के सामने ऐसी घटना देख रहे थे, तो बचाने के लिए आगे क्यों नहीं बढ़े ? तो इस प्रश्न का उत्तर सम्भवतः ऐसा मिलेगा।-"क्या करें भाई ? कौन उन गुण्डों से दुश्मनी मोल ले ? हमें साथ ही रहना है, दिन-रात यहीं घूमना फिरना है, फिर कौन सिर पर खतरा उठाने की मूर्खता करे !" भगवान् कृष्ण को ऐसा goody-goody (तथाकथित अच्छा) भाव पसन्द नहीं । तभी तो जब अर्जुन प्रेम, दया और वैराग्य की बात करता है, तो भगवान् उसे नपुंसक, कायर, अनार्य आदि की उपाधि दे देते हैं। दया और वैराग्य की बात अपनी जगह ठीक है, पर अर्जुन के लिए इस विषम स्थल पर वह उचित नहीं--यह भगवान् का मन्तव्य है। यह ठीक है कि मनुष्य को अपने शरीर के अंगों के प्रति ममत्व होता है, पर यदि किसी अंग में गैंगरीन हो जाय, तब तो उसे काटकर ही अलग करना श्रेयस्कर है। यदि व्यक्ति यह कहकर रोता रहे कि 'अरे, मेरा प्यारा अंग कट जायगा', तो उसके इस रुदन को कोई बुद्धिमानी नहीं कहेगा। बुद्धिमानी इसमें है कि उस अंग को तुरत काटकर अलग कर दे। इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन को युद्ध के द्वारा इस अधर्म की बेल को काटने का उपदेश देते हैं। अर्जुन यदि स्वधर्म का पालन न करेगा, युद्ध न करेगा, तो निश्चित ही कौरव जीत जाएँगे, दुर्योधन राजा बना रहेगा और समाज में सर्वत्र अधर्म का

बोलवाला हो जायगा। लोगों की धर्म की शक्ति पर से आस्था डुल जाएगी और लोग कहने लगेंगे कि दुनिया में अधर्म ही चलता है, धर्म नहीं।

ऐसा न हो, इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से स्वधर्म-पालन की बात कहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इस प्रकार से मिलनेवाला धर्मयुद्ध क्षत्रिय के लिए सर्वाधिक कल्याणकर है। प्रश्न उठता है कि क्षत्रिय के लिए कल्याण प्राप्त करने का क्या युद्ध ही एकमात्र उपाय है? उसके लिए और भी तो कई उपाय हैं--विभिन्न यज्ञ हैं, दान और दया है। फिर युद्ध पर ही बल क्यों? इसका एक उत्तर यह है कि अर्जुन को तो तुरन्त युद्ध में लगाना था, इसलिए धर्मयुद्ध की प्रशंसा की गयी। दूसरा उत्तर यह है कि कल्याण के जो अन्यान्य साधन हैं, वे बड़े समय-साध्य होते हैं, उनमें द्रव्य आदि की भी अपेक्षा होती है, पर सैनिक के लिए तो धर्मयुद्ध तत्काल कल्याणसाधक है।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण अर्जुन की दृष्टि स्वधर्म-पालन की ओर खींचते हैं और कहते हैं कि ऐसा अपने आप, बिना बुलाये, सिर पर आ जानेवाला युद्ध क्षत्रिय के लिए स्वर्ग का द्वार खोल देता है। भगवान् के इस कथन की व्याख्या हम अपनी अगली चर्चा में करेंगे और इस पर भी प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे कि स्वधर्म-पालन के द्वारा अर्थ और काम की प्रवृत्तियाँ किस प्रकार धर्म के नियंत्रण में लायी जाती हैं।

प्रश्न——क्या काम का समूल उन्मूलन सम्भव है ? भगवान् कृष्ण ने गीता में जो कहा है——'कामोऽस्मि', उसका क्या तात्पर्य है ?

——हीरालाल रिछारिया, बालाघाट

उत्तर——काम का समूल उन्मूलन केवल ज्ञानलाभ के पश्चात् ही सम्भव है। पर यह ज्ञानलाभ कोई सहजलभ्य अवस्था तो है नहीं,अत: व्यावहारिक रूप से यह मान लेने में कोई अड़चन नहीं कि जब तक शरीर है, तब तक इस काम के प्रति सतर्क रहना चाहिए।

फ्रायड एवं अन्य मनोवैज्ञानिकों का मत है कि काम को दबाने म कुण्ठाओं (complexes) का उदय होता है और मनुष्य कुण्ठा-ग्रस्त होकर विभिन्न मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है। ये बातें एकदम असत्य नहीं हैं। यदि काम की शक्ति को दबाया जाय, तो अवश्य कुण्ठाएँ उत्पन्न होती हैं, पर अध्यात्म की साधना में इसे दबाने का नहीं, वलिक उदात्त करने का प्रयास किया जाता है। उदात्तीकरण की प्रक्रिया प्रशमन और दमन (suppression and repression) से भिन्न है। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिक इन कुण्ठाओं से बचने के लिए काम के भोग का उपदेश देते हैं। पर प्रश्न यह है कि यदि हम काम की वृत्ति पर यह सोचकर अंकुश न लगाएँ कि इससे हम कुण्ठाग्रस्त हो जाएँगे और उसको छूट दे दे, उसका भोग करें, तो क्या इससे भी मन में एक कुण्ठा का

निरोग नहीं होगा ? अमेरिका आदि देशों में जहाँ निर्बाध 'सेक्स' का व्यवहार है, जहाँ लोग अपने को 'लिबरेटेड' (liberated) अनुभव करते हैं, फिर क्यों इतना मानसिक तनाव और हताशा है ? जो हिप्पी किसी प्रकार के बन्धन में नहीं हैं, वे क्या कुण्ठाओं से मुक्त हो चुके होते हैं ? और यदि उनकी स्थिति को कुण्ठामुक्त माना जाय, तो वह कोई स्पृहणीय अवस्था नहीं है।

इस सन्दर्भ में हमें उदात्तीकरण का अर्थ समझ लेना चाहिए। यह सही है कि जीवन में 'काम' का वेग बड़ा प्रबल होता है, पर यह भी सही है कि उस वेग को बाँधने के निश्चित उपाय हैं। यदि उचित सावधानी बरतते हुए इन उपायों का सहारा लिया जाय, तो हम इस वेग को बाँधकर वांछित दिशा में मोड़ने में सफल होते हैं। जब हम इस वेग को ईश्वराभिमुखी बनाते हैं, तभी उसे अध्यात्म साहित्य 'प्रेम' की संज्ञा देता है। हम लौकिक दृष्टि से जिसे 'प्रेम' कहकर पुकारते हैं, वह अध्यात्म की दृष्टि से प्रेम नहीं है। जब हम व्यक्ति को व्यक्ति मानकर नहीं अपितु ईश्वर का प्रकाश अथवा आत्मस्वरूप मानकर स्नेह करते हैं, तब वह अध्यात्म की दृष्टि से 'प्रेम' है और हमारा जीवन इसी प्रेम को प्राप्त करने की साधना है। प्रेम को जो 'सेक्स' का समानार्थी मानते हैं, उन्हें तो अध्यात्म का नाम ही नहीं लेना चाहिए। और जो यह मानते हैं कि 'सेक्स' के द्वारा ही वे प्रेम के प्रांगण में प्रवेश पा सकते हैं, वे नादान हैं।

काम को नियंत्रण में लाने के लिए सबसे कारगर उपाय यह है कि हम उसका चिन्तन जान-बूझकर न करें और काम की उद्दीपना देनेवाले परिवेशों से अपने को यथासाध्य दूर रखने का प्रयास करें। वास्तव में, काम को बहुधा हमीं जान-बूझकर उद्दीपित करते हैं और फिर उसकी शान्ति का उपाय खोजते हैं। यह तो वैसा ही है, जैसा एक कवि ने कहा है--

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि

क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि बलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधू
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

--जब मनुष्य को प्यास-रोग सताता है, तब मीठे और सुगन्धित जल के पान से वह इस रोग को दूर कर लेता है। आनन्द तो उसे रोग दूर होने के कारण आया, पर वह मानता है कि मिष्ट-सुरभित जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। यदि यही बात हो तो पेट जब भरा हो, तब भी वैसा जल पीने से आनन्द आना चाहिए, पर वह नहीं आता। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग करने से होती है। लोग कहते कि भोजन में बड़ा आनन्द आया, पर वस्तुतः आनन्द तो भूखरूपी रोग के निवारण से प्राप्त हुआ। यदि किसी विशेष भोजन में आनन्द होता, तो पेट भरा रहने पर भी उसके भक्षण से आनन्द मिलना चाहिए, जो नहीं मिलता। इसी प्रकार काम का प्रदीप्त होना भी एक रोग है और उसका शमन पत्नी-सम्बन्ध के द्वारा होता है। असल में व्याधि के प्रतीकार के कारण हमें सुख मिलता है, पर मनुष्य भ्रान्ति से क्रियाओं में सुख मान लेता है। यदि सुख क्रियाओं से मिलता होता, तो सभी अवस्थाओं में उन क्रियाओं से सुख उत्पन्न होता पर ऐसा नहीं हुआ करता।

तात्पर्य यह है कि सुख रोग के दूर होने से होता है। फ्लू के प्रकोप में पड़कर चंगा होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। तो क्या इसीलिए मैं यह प्रयत्न करूँ कि मुझे फिर से टायफाइड या फ्लू हो जाय और मैं उससे मुक्त होने की चेष्टा करूँ? नहीं, मैं ऐसा नहीं करता। तो फिर क्यों हम काम की वृत्ति के भोग के लिए प्रयत्नपूर्वक काम-ज्वर उत्पन्न करते हैं? यदि हम यह बात समझ लें और तदनुरूप सावधानीपूर्वक जीवन में व्यवहार करें, तो काम के नियन्त्रण की दिशा में हम एक बड़ा कदम उठा लेंगे।

जैसा हमने कहा, काम जीवन की एक प्रबल शक्ति है और उसे व्यवस्थित रूप से धीरे धीरे अपने नियंत्रण में लाना पड़ता है। विवाहितों के लिए इसका प्रथम चरण है--अपनी पत्नी के सिवा अन्यत्र कहीं भी यौन-सम्बन्ध न रखना और पत्नी के साथ भी संयमपूर्वक व्यवहार करना। यह संयम धर्म का एक रूप है और इसी दृष्टि से भगवान् कृष्ण ने कहा है --'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'--'हे भरतर्षभ, मैं जीवों में धर्म का अविरोधी काम हूँ'। भगवान् अपनी विभूति का वर्णन करते हुए काम की प्रबल शक्ति को अपनी विभूति के अन्तर्गत गिनाकर उसे मान्यता तो देते हैं, पर एक विशेषण लगाना वे नहीं भूलते--'धर्माविरुद्धः', 'धर्म का अविरोधी'। विवाहितों के लिए दूसरा चरण श्रीरामकृष्ण देव की भाषा में देखिए--"एक-दो बच्चे हो जाने पर पति-पत्नी को भाई-बहिन के समान संसार में रहना चाहिए।" जो अविवाहित है और अध्यात्म-पथ पर बढ़ना चाहता है, उसे तो 'सेक्स' से पूरी तरह दूर रहना होगा। मानसिक दोष यदि हो भी जाय, अर्थात् मन से यदि पाप-चिन्तन कभी हो भी, तो उसकी उपेक्षा करे, उसे तूल न दे और अधिकाधिक शुभ विचारों और कार्यों के परिवेश में अपने को घेरे रखे। श्रीमाँ सारदादेवी ने कहा था--"कलियुग में मानसिक दोष पाप में नहीं गिना जाता।" पर इसका तात्पर्य हम यह न ले लें कि हमें पाप-चिन्तन की छूट मिल गयी है। ऐसा अर्थ लेना एकदम भूल है। इसका मतलब केवल इतना है कि यदि कभी हमसे पाप-चिन्तन हो जाय, तो हम उसे उपेक्षित करें, मन को पुनः उधर न जाने देने का प्रयास करें और हम हरदम अपने को सत्कार्यों और सच्चिन्तन में व्यस्त रखें।

इस प्रकार सुनियोजित और सावधानीपूर्वक किया जानेवाला अभ्यास ही क्रमशः काम के वेग को बाँध सकता है और अन्त में भगवत्कृपा का अधिकारी बना हमें उससे मुक्त भी कर दे सकता है।

❁